अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 5 वैशाख-ज्येष्ठ वि.सं. 2083 मई, 2026 मूल्य : अठारह रुपये पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर विमर्श

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 लागू होने को पांच वर्ष हो रहे हैं। यह वह समय है जब इसके अब तक के क्रियान्वयन के अनुभवों का विश्लेषण किया जा सके और उन चुनौतियों से निबटने की राह खोजी जा सके जो इसमें बाधक बन रही है। इसी उद्देश्य से प्रमुख संस्था 'संधान' ने राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के साथ मिल कर गत 25 अप्रेल को दिन भर का एक विमर्श रखा ।

विमर्श का विषय था 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति: चुनौतियां और संभावनाएं, स्वयंसेवी संस्थाओं एवं सिविल सोसायटियों की भूमिका'। समिति के सभागृह में अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधि मौजूद थे जो शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर काम कर रहे हैं।

संधान के अध्यक्ष राजेन्द्र भाणावत, जिनकी प्रेरणा से यह संवाद हुआ, ने विमर्श का आधार तैयार करते हुए आशा प्रकट की इस विमर्श में नई शिक्षा नीति के क्रियान्वयन में आनेवाली प्रमुख कमियों को रेखांकित किया जाएगा तथा सार्वजनिक-निजी भागीदारी से दूर करने के उपाय खोजे जाएंगे। दूसरा दशक के अध्यक्ष अभिमन्यु सिंह का कहना था कि आज भी 15 वर्ष से ऊपर की दुनिया की आबादी के एक तिहाई निरक्षर भारत में है। भारत की शिक्षा नीति में बड़े बड़े शब्दों का जाल रहा है मगर वे अव्यावहारिक साबित हुई हैं। कानपुर एवं गोरखपुर विश्वविद्यालयों के कुलपति रहे डॉ. अशोक कुमार का भी कहना था कि शिक्षा नीति ज़मीनी हकीकत से मेल नहीं खाती। बिना शिक्षकों के कौशल विकास की कोशिशें हो रही है। प्रारम्भिक शिक्षा में जहां जबरदस्त ढांचागत समस्याएं हैण वही उच्च शिक्षा में समानांतर कोचिंग व्यवस्था ने छात्रों को कॉलेजों से दूर कर दिया है। जब तक शासन ढांचागत सुविधाएं नहीं मुहैया कराएगा नीति का असली क्रियान्वयन नहीं हो सकेगा।

राज्य सरकार में शिक्षा सचिव राजेश यादव ने इस पर विचार करने का भरोसा दिलाया कि स्वयं सेवी संगठन गुणवत्ता वाली शिक्षा उपलब्ध करने के लिये किस प्रकार सरकार की मदद कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि बदली परिस्थिति में अभिभावक को संवेदनशील बनाने में एनजीओ अच्छी भूमिका निभा सकते हैं। उन्होंने कहा कि नये विचार देने तथा उनके क्रियान्वयन में राजस्थान ने हमेशा अग्रणी भूमिका निभाई है। इस विमर्श में जो सुझाव आएंगे उन पर शासन सकारात्मक रुख से विचार करेगा।

शिक्षा में वे कौन से बदलाव चाहते हैं इस पर बाद में विभिन्न सत्रों में प्रतिभागियों ने अपने विचार रखे। अन्य सत्रों के प्रमुख वक्ता थे प्रथम के कुलभूषण कोठारी, बोध शिक्षा समिति के योगेंद्र, शिक्षाविद् अमृता सेनगुप्ता, तथा विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर की डॉ. शोभिता राजागोपाल। ❑

ज्ञान भक्ति अरु जोग का घट लेवै पहँचान
जैसी जाकी बुद्धि है सोइ बतावै ध्यान

- सहजो बाई

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 5 वैशाख-ज्येष्ठ वि.सं. 2083 मई, 2026 मूल्य : अठारह रुपये

क्र म

वाणी

3. सहजो बाई

संपादकीय

5. शिक्षा जगत में प्रभावी शिक्षक की वापसी कैसे हो!

विमर्श

7. ब्रांडिंग के दौर में विश्वविद्यालय!
– अविजित पाठक

9. बंद किताबें, खोया भविष्य
– कुलभूषण कोठारी

लेख

11. समाज में घटती सहिष्णुता : बढ़ती चिंता!
– प्रदीप एस.मेहता

अभिमत

13. खेल बुनियादी ढांचे की कमी सार्वजनिक स्वास्थ्य का जोखिम
– अमरदीप सिंह

14. छवियों का रहस्मय संसार
– जोश स्पेरो

लेख

17. शब्द ही जन चेतना के महाकाव्य बनते हैं!
– वेद व्यास

अभिमत

19. डिजिटल युग में क्या छपी किताबों के पाठक बचे रहेंगे? **– शॉन हू**

शोध

22. प्राचीन कला में लिखित भाषा की उत्पत्ति के सुराग
– जैकी फ्लिन मोगेंसन

अध्ययन

24. एआई डेटा सेंटर आस-पास के इलाकों का तापमान बढ़ा देते हैं
– क्रिस स्टोकेल-वॉकर

स्मृति शेष

25. नाट्यकार बब्बन खान का निधन
26. रघु राय को विदाई
27. आशाभोंसले : एक युग की कड़ी टूटना

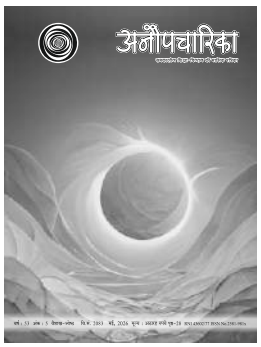

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,
जयपुर-302004
फोन : 2700559, 2706709, 2707677
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com
www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

शिक्षा जगत में प्रभावी शिक्षक की वापसी कैसे हो!

एक राष्ट्र के रूप में, हम स्कूली शिक्षा के हर स्तर पर ग्रेड और डिस्टिंक्शन के पीछे भागने में लगे हुए हैं। बोर्ड के परिणामों के आधार पर स्कूलें अपनी प्रतिष्ठा बनाती हैं। इससे शिक्षकों के लिए एक पेशेवर खतरा बढ़ गया है। अक्सर, वे शिक्षक जो सबसे अच्छे इरादों के साथ शिक्षण के पेशे को चुनते हैं, इस बाधा का सामना करते हैं। कितना पढ़ाना है और कैसे पढ़ाना है, इसके बीच रस्साकशी चलती है। यदि शिक्षक छात्र-केंद्रित दृष्टिकोण का विकल्प चुनते हैं और कक्षा में सहयोग और रचनात्मकता के लिए समय और स्थान देते हैं, छात्रों को अपनी अनूठी शैलियों में सीखने की गहराई में उतरने देते हैं, तो उनके पास पारंपरिक परीक्षाओं में छात्रों से अपेक्षित विषय-वस्तु को सुदृढ़ करने के लिए समय नहीं बचता है। ऐसे में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या विषय-वस्तु को कवर करने और छात्र-केंद्रित दृष्टिकोण के बीच परस्पर संबंध बन सकता हैं? क्या हमें कक्षाओं के संचालन के वैकल्पिक तरीकों के बारे में थोड़ा प्रयोग और अन्वेषण के साथ विषय-वस्तु को कवर करने के लिए अधिक रचनात्मक तरीके तैयार करने की आवश्यकता नहीं है?

महामारी के बाद सीखने के माहौल को बनाने के प्रयासों के जो दावे किये गए थे कि उसमें नए डिजिटल साक्षरता कौशल शामिल किए जाएंगे, साथियों के साथ बातचीत की उनकी ज़रूरत को पूरी करेंगे, और हाइब्रिड छात्र-नेतृत्व वाले दृष्टिकोणों के नए आयामों के माध्यम से उनकी रचनात्मकता को बढ़ावा दिया जाएगा वह सब किसे याद है? अगली पीढ़ी के लिए अवसरों के कितने दरवाज़े हम खोल पाये हैं।

शिक्षक का पेशा जब महज नौकरी का हो जाता है तब क्या-क्या कबाड़े हो जाते हैं यह अब किसी से छुपा नहीं है। विडंबना यह है कि अब प्रभावी शिक्षक क्या होता है, इस पर शिक्षा जगत में कोई संवाद ही नहीं है। पूरी उम्र शिक्षा के काम में लगे लोग अब ज़मीन-जायदाद के कारोबारियों के कसीदे लिखने लगे हैं।

प्रभावी शिक्षक की शिक्षा जगत में फिर से वापसी कैसे हो, जो विषय-वस्तु और साथ की गतिविधियों की तरफ छात्रों को आकर्षित करने और प्रेरित करने में प्रासंगिक बन सके? निर्धारित सीखने के परिणामों को पूरा करने के लिए आज छात्रों को अपने आप पर छोड़ दिया गया है। परिवर्तनकारी शिक्षण का मतलब छात्रों को खुद के लिए रास्ता बनाने के लिए तैयार करना तो ठीक है मगर उसे कैसे करना है यह प्रभावी शिक्षक जानता है। जो पढ़ाया जा रहा है उसे समझने के लिए छात्र को संघर्ष करना पड़ता है। वह निर्धारित करने की रणनीतिक प्रक्रिया

कहां है जो प्रत्येक छात्र को सीखने में सक्षम बनाती है? शिक्षा का मतलब जुड़ाव और बौद्धिक उत्तेजना से प्रेरणा और उपलब्धि को बढ़ावा देना होता है, न कि परीक्षा लेने के कौशल से, जहां सभी को एक ही मानदंड के अनुसार परखा जाता है।

हाल ही में हुए एक अध्ययन ने पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को इस आधार पर निर्धारित करने की जरूरत बताई कि एक छात्र किस चीज़ के लिए तैयार है, बजाय इसके कि उसे एक निश्चित उम्र में क्या जानना चाहिए। अगर कोई छात्र उन मानदंडों तक नहीं पहुंच पाता है तो उसे शर्मिंदा क्यों किया जाना चाहिए?

कितनों को एक सूत्र, एक परिभाषा या तथ्यात्मक जानकारी के साथ संघर्ष करने की वह भयानक याद है जिसे वह याद नहीं कर पाते थे जबकि उनके सहपाठी इसमें तेज़ और कुशल थे? सच तो यही है कि लगभग सभी छात्र स्कूली शिक्षा के विभिन्न चरणों में 'पर्याप्त रूप से अच्छे नहीं होने' की चेतना से गुजरते हैं।

इसलिए पारंपरिक शिक्षा-मॉडल और शैली में आवश्यक बदलाव की जरूरत बताई जाती है। इसका यह भी अर्थ है कि हमारी तकनीकों को छात्रों के बीच अंतर को स्वीकार करते हुए और उसका जश्न मनाते हुए विभिन्न प्रकार के कौशल विकसित करने होंगे। जब हमारे छात्र आगे जाकर पेशेवर बनेंगे, तो वे विविध टीमों के हिस्से के रूप में काम करेंगे, जहां हर कोई एक ही स्तर और कौशल साझा नहीं करेगा क्योंकि टीमों को एक पहेली के टुकड़ों को एक साथ लाने के लिए बनाया जाता है जो एक दूसरे से बिल्कुल अलग दिखते हैं, लेकिन वे एक दृष्टि को पूरा करने के लिए खूबसूरती से जुड़ते हैं।

इस अहसास के साथ कि हर कोई हर चीज में महान नहीं हो सकता है, छात्रों को एक-दूसरे के साथ सहयोग करने में मदद करने के लिए एक व्यवस्थित दृष्टिकोण, दृश्य, लेखन, बोलने या ड्राइंग का उपयोग करके बहुत कुछ करने की आवश्यकता है ताकि छात्र कक्षा में शिक्षक का व्याख्यान सुनने के लिए निष्क्रिय रूप से न आये।

पारंपरिक होमवर्क दृष्टिकोण से हटकर प्रेरणा और रचनात्मकता वाला कुछ नया करने से भी मदद मिल सकती है। छात्रों से इनपुट जरूरी नहीं कि पाठ्यक्रम वाला ही हो। सीखने का आकलन करने की संभावनाओं की एक विशाल दुनिया में आज की तकनीक-संचालित शिक्षा प्रणाली में, छात्र वीडियो, पॉडकास्ट, साक्षात्कार, गीत आदि बना सकते हैं।

उदाहरण के लिए, हाल ही में पाया गया कि कुछ स्कूलों के लिए ऑनलाइन टेस्ट और परीक्षाएं काम नहीं कर रही हैं, खासकर उन स्कूलों के लिए जहां बड़ी संख्या में छात्रों को मैनेज करना होता है। हालांकि, शिक्षक के साथ छोटे 'वाइवा' - एक से एक - को शामिल करने के लिए मूल्यांकन को पुनर्गठित करना बहुत उपयोगी रहा है।

ऐसे खुले-आम सवालों की ओर भी रुख करना होगा जिनका कोई सही या गलत जवाब नहीं होता, लेकिन वे विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक सोच कौशल का परीक्षण करते हैं। अगर योग्य, प्रेरित और प्रभावी शिक्षकों का नेतृत्व मिले तो छात्र इस बदलाव का स्वागत करेंगे और जल्दी से इसे अपना भी लेंगे। ❑

❑

अविजित पाठक

मुनाफे के लिये ब्रांड बनने की होड में लगे विश्वविद्यालयों पर एक समाजशास्त्री की यह कठोर टिप्पणी आज की हक़ीकत बयान करती है। सं.

ब्रांडिंग के दौर में विश्वविद्यालय !

❑

मुझे ज़रा भी हैरानी नहीं हुई, जब मुझे उस विवाद के बारे में पता चला, जिसे गलगोटिया यूनिवर्सिटी की एक प्रोफ़ेसर ने पिछले दिनों देश की राजधानी में हुए इंडिया एआई इम्पैक्ट समिट में खड़ा कर दिया था। प्रोफ़ेसर नेहा सिंह को अपनी यूनिवर्सिटी की उपलब्धि दिखाने के लिए एक झूठा दावा करने में ज़रा भी हिचकिचाहट महसूस नहीं हुई। हम सबने देखा कि कैसे उन्होंने बड़ी-बड़ी कंपनियों माल बेचने में माहिर विक्रेता की भांति दूरदर्शन को होशियारी के साथ बताया कि ओरियन नाम का रोबोटिक श्वान यूनिवर्सिटी के सेंटर ऑफ़ एक्सीलेंस में बनाया गया है; जबकि कड़वी सच्चाई यह थी कि इस रोबोट का आविष्कार एक चीनी रोबोटिक्स कंपनी यूनीट्री ने किया है, और यह भारत में ऑनलाइन बेचा जाता है।

विश्वविद्यालय का वह आदर्श, जिसे हमारी पीढ़ी ने संजोकर रखा था, अब ढह चुका है। हमने सोचा था कि एक विश्वविद्यालय को अपनी सक्रिय शिक्षण पद्धति, सार्थक शोध, आलोचनात्मक सोच और नैतिक संवेदनाओं के लिए पहचाना जाना चाहिए। हमारा मानना था कि विश्वविद्यालय शिक्षण के पेशे की गरिमा वाला एक ऐसा स्थान है जो किसी व्यावसायिक उद्यम, शॉपिंग मॉल या विज्ञापन एजेंसी से गुणात्मक रूप से बिल्कुल अलग होता है।

लेकिन अब, हम बिल्कुल ही अलग दौर में जी रहे हैं। जैसे-जैसे बाज़ार-संचालित नव-उदारवादी साधन-मूलक तर्कबुद्धि शैक्षणिक जगत पर अपना कब्ज़ा जमाना शुरू करती है, शिक्षा महज़ एक व्यवसाय बनकर रह जाती है; आलोचनात्मक सोच की बलि चढ़ा दी जाती है; छात्र एक उपभोक्ता बन जाता है और शिक्षक एक सेवा प्रदाता की भूमिका निभाने लगता है।

इसमें कोई हैरानी की बात नहीं है कि अब विश्वविद्यालय भी अपनी ब्रांड वैल्यू बेचने लगे हैं ठीक उसी तरह, जैसे कोई कंपनी डिटर्जेंट पाउडर बेचती है और अपने उत्पाद के फ़ायदों के बारे में तरह-तरह के झूठे या बढ़ा-चढ़ाकर दावे करती है। असल में, रोबोटिक्स, डेटा साइंस और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस ये वे आकर्षक उत्पाद हैं, जिन्हें नव-उदारवादी विश्वविद्यालय रणनीतिक विज्ञापन और बढ़ा-चढ़ाकर दावे करके बेचने की कोशिश करते हैं। इसलिए, हमें हैरानी क्यों होनी चाहिए, अगर कोई यूनिवर्सिटी आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के बारे में कोई झूठा दावा करती है? एक तरह से, मैं प्रोफ़ेसर नेहा सिंह को दोष नहीं देता, क्योंकि आखिर वह एक ऐसी संस्कृति की उपज हैं, जो विश्वविद्यालय के मुनाफ़ा कमाने वाले व्यवसाय में, प्रोफ़ेसर को पब्लिक रिलेशन एजेंट में, और छात्र या अभिभावक को संभावित ग्राहक में बदल देती है।

भले ही गलगोटिया यूनिवर्सिटी अभी सुर्खियों में है, लेकिन सच तो यह है कि विश्वविद्यालय को को एक 'ब्रांड' के तौर पर बेचने का यह काम अब आम हो चला है। शिक्षा के इस तरह के नंगे बाज़ारीकरण को उस चीज़ ने और भी ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है, जिसे मैं 'रैंकिंग' की राजनीति कहूंगा।

बिलबोर्ड या चमकीली मैगज़ीन और अख़बारों में छपे शानदार विज्ञापनों को देखिए, और आप आसानी से देख पाएंगे कि ये सभी संस्थान खुद को टॉप रैंकिंग यूनिवर्सिटी के तौर पर कैसे पेश करते हैं।

ऐसी रैंकिंग एजेंसियों की भी कोई कमी नहीं है, जिन्हें ये यूनिवर्सिटी लगातार काम पर रखती हैं और बुलाती हैं। इन विश्वविद्यालयों की बड़ी सावधानी से तैयार की गई तस्वीरों में अक्सर उनकी उपलब्धियों के बारे में तरह-तरह के बढ़ा-चढ़ाकर किए गए दावे भरे होते हैं, और सबसे बढ़कर, उन पैकेजों के बारे में दावे होते हैं, जो उनके गूगल, इन्फोसिस, विप्रो व अमेज़न जैसे संस्थानों से मिलते हैं।

मुझे नहीं मालूम कि जब मैं किसी विश्वविद्यालय को किसी 'दुकान' की तरह शानदार विज्ञापन के ज़रिए खुद को अपना माल बेचते हुए देखता हूं, तो मुझे हंसी आनी चाहिए या रोना। इस तरह के माहौल में, कोई प्रोफ़ेसर सच की खोज करने वाला नहीं बन सकता; उसे भी उस विश्वविद्यालय की 'ब्रांड' वैल्यू के बारे में झूठे या बढ़ा-चढ़ाकर दावे करने पड़ते हैं, जिसने उसे नौकरी पर रखा है। मैं प्रोफ़ेसर नेहा सिंह की मानसिक उलझन को समझता हूं।

इसके अलावा, टिके रहने के लिए, इन सभी शिक्षा की दुकानों को लगातार सत्ताधारी सरकार को भी खुश रखना पड़ता है। खासकर तब, जब हमें बताया जाता है कि भारत को एक 'विश्वगुरु' के तौर पर तकनीकी-आदर्शवाद का सबसे नया रूप आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, जिसे कॉर्पोरेट अरबपति बेचने के लिए बेताब हैं, में पीछे नहीं रहना चाहिए।

गलगोटिया यूनिवर्सिटी ने शायद सत्ताधारी सरकार को खुश करने के लिए सारी हदें पार कर दीं और, विडंबना यह है कि, उसने सरकार को ही शर्मिंदा कर दिया।

वास्तव में यह देश में राजनीति और शिक्षा की मौजूदा हालत पर एक दुखद टिप्पणी है। किसी चीनी रोबोटिक श्वान को एक भारतीय आविष्कार के तौर पर पेश करने की यह सनकी चाहत यह भी दिखाती है कि हमें भारत को एक नक़लची देश में बदलने में कभी शर्म महसूस नहीं होती। शायद, हम अभी तक अपनी चेतना को औपनिवेशिक सोच से आज़ाद कराने में कामयाब नहीं हो पाए हैं।

आज़ादी के बाद के भारत में भी, विकसित पश्चिमी दुनिया हमारे लिए एक सकारात्मक आदर्श बनी हुई है।

अपनी खुद की विशिष्ट शैक्षणिक संस्कृति को निखारने और ऐसे संस्थान, जो आत्मविश्वास से भरे हों और स्थानीय ज़रूरतों व चुनौतियों के अनुरूप हों, बनाने के बजाय हम आज भी ऑक्सफ़ोर्ड, कैम्ब्रिज, हार्वर्ड या प्रिंसटन को ही अपना आदर्श मानते हैं। मुझे सचमुच बहुत दुख होता है जब मैं देखता हूँ कि भारत के किसी अच्छे कॉलेज या विश्वविद्यालय को पूरब का ऑक्सफ़ोर्ड कहा जाता है!

इस क्षेत्र से जुड़ा हर व्यक्ति जानता है कि शैक्षणिक जगत में कॉपी-पेस्ट संस्कृति काफी आम है जिसे हम शोध-पत्रों में देखते हैं। जैसे मानविकी और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में, हर कोई जूडिथ बटलर और मिशेल फूको की शब्दावली की ही नकल करने लगता है। दरअसल, गलगोटिया यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ने जो किया, उससे यह ज़ाहिर होता है कि नकलची देश के लिए मौलिक बनना इतना आसान नहीं होता।❑

बंद किताबें, खोया भविष्य

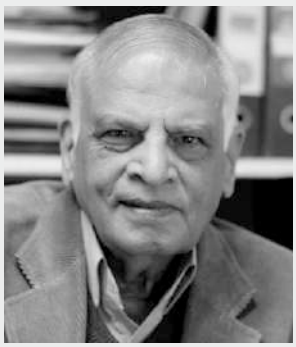

❑

कुलभूषण कोठारी

न्यूयॉर्क में यूनिसेफ के वरिष्ठ सलाहकार रहने के अलावा अहमदाबाद के इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मेनेजमेंट में पढ़ा चुके लेखक बच्चों की किताबों के बारे में बात कर रहे हैं। सं.

❑

राजस्थान पत्रिका में हाल ही में छपी एक रिपोर्ट ने मेरा ध्यान खींचा: बच्चों की किताबें ताले में बंद, बाल साहित्य अकादमी पूरे दो साल से बंद पड़ी है। यह कोई छोटी-मोटी कागज़ी गड़बड़ी नहीं है। राजस्थान में, जहां बच्चे अभी भी ठीक से बुनियादी वाक्य पढ़ने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, कहानियों के प्रति प्यार जगाने के लिए बनाई गई एक अकादमी को बेकार पड़े रहने देना, उन बच्चों, जिन्हें इसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, के साथ एक विश्वासघात जैसा है।

मैं पिछले बीस वर्षों से प्रथम राजस्थान के साथ ज़मीनी स्तर पर काम कर रहा हूं, और मैंने गांव के स्कूलों में यह बार-बार यह दृश्य देखा है कि एक बच्चा एक साधारण कहानी की किताब उठाता है, हिचकिचाता है, हर शब्द को धीरे-धीरे बोलकर पढ़ता है, और पूरी क्लास बस इंतज़ार करती रहती है। हर बार यह देखकर दिल थोड़ा टूट जाता है। हमारे असर सर्वे में भी बार-बार यही कड़वी सच्चाई दिखती है।

असर 2024 के ताज़ा नतीजे कुछ राष्ट्रीय सुधार की पुष्टि करते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर, सरकारी स्कूलों के पांचवीं क्लास के लगभग 44.8 प्रतिशत बच्चे अब दूसरी क्लास के स्तर का पाठ पढ़ सकते हैं (यह 2022 के 38.5 प्रतिशत से ज़्यादा है, और 2018 के महामारी से पहले के 44.2 प्रतिशत के करीब है)।

लेकिन राजस्थान का क्या? हम अभी भी बहुत पीछे हैं। सरकारी स्कूलों के पांचवीं क्लास के सिर्फ़ 17.5 बच्चे ही ऐसा कर पाते हैं, जिससे हम बिहार और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों के साथ सबसे निचले पायदान पर पहुंच जाते हैं। दूसरी जगहों पर प्रगति हो रही है, लेकिन यहां यह खाई अभी भी बहुत गहरी है।

यही वजह है कि बच्चों को जिन किताबों में सचमुच मज़ा आता है, वे इतनी मायने रखती हैं। वे अक्सर शब्दों के साथ संघर्ष करने से लेकर आत्मविश्वास के साथ पढ़ने तक का पहला कदम होती हैं।

ठीक यहीं पर 'प्रथम बुक्स' जैसे समूह काम आते हैं। स्टोरी वीवर और अपने ओपन-एक्सेस प्लेटफ़ॉर्म के ज़रिए, उन्होंने कई भारतीय भाषाओं में हज़ारों मज़ेदार कहानिययां उपलब्ध कराई हैं, जिन्हें मुफ़्त में पढ़ा, डाउनलोड किया और शेयर किया जा सकता है। यह एक सरल, लेकिन ज़बरदस्त काम है: बच्चे के हाथ में एक ऐसी किताब देना जो उसे मज़ेदार और जानी-पहचानी लगे, और अचानक पढ़ना तब कोई बोझ नहीं रह जाता। यह आत्मविश्वास और जिज्ञासा जगाता है - ठीक वही सब, जिसके लिए हम संघर्ष कर रहे हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू बाल साहित्य अकादमी को ठीक यहीं राजस्थान में भी कुछ ऐसा ही करना था। स्थानीय लेखकों और चित्रकारों को हमारी संस्कृति और भाषाओं से जुड़ी कहानियां बनाने में मदद करना, कार्यशालाएं करना, सस्ती किताबें छापना, और उन्हें स्कूलों और गांवों तक पहुंचाना।

जब यह अकादमी काम करना बंद कर देती है, तो पूरी की पूरी कड़ी टूट जाती है: कम नई कहानियां लिखी जाती हैं, रचनाकारों को मिलने वाला सहारा खत्म हो जाता है, और बच्चे उन किताबों से वंचित रह जाते हैं जिन्हें पढ़कर वे कहते, मुझे और पढ़ना है।

तो हम अपने बच्चों से क्या कह रहे हैं, जब वह एक जगह जो उनकी कहानियों को बढ़ावा देने के लिए बनी थी, खुद ही चुप हो जाती है? क्या हम यह कह रहे हैं कि किताबों की असल में कोई अहमियत नहीं है? क्या हम यह कह रहे हैं कि जब हम दाखिलों के आंकड़ों या नई इमारतों के पीछे भाग रहे हैं, तब कल्पना को इंतज़ार करना होगा?

शिक्षा का मतलब सिर्फ़ बच्चों को क्लासरूम तक पहुंचाना नहीं होता है। इसका मतलब है उनके अंदर की उस चिंगारी को जलाना जो उसमें जिज्ञासा जलाये। बच्चों के लिए अच्छे साहित्य के बिना, खासकर उन ग्रामीण बच्चों के लिए जिन्हें शायद कभी कोई कहानी की किताब देखने को भी न मिले, हम अपना आधा काम अधूरा छोड़ रहे हैं।

हमें इस अकादमी को फिर से ज़िंदा करने की ज़रूरत है। उन बंद पड़ी किताबों को बाहर निकालें, फिर से छपाई शुरू करें, कार्यशालाएं, और लोगों तक पहुंचने के कार्यक्रमों को वापस लाएं। स्कूलों, लेखकों, और 'प्रथम' और 'प्रथम बुक्स' जैसे संगठनों के साथ मिलकर इसे कहानियों का एक असली केंद्र बनाएं। यह कोई बहुत बड़ा या दिखावटी प्रोजेक्ट नहीं है। यह हमारे बच्चों के भविष्य के लिए एक बुनियादी और बेहद ज़रूरी काम है।

राजस्थान को खुद से ईमानदारी से यह सवाल पूछना होगा: अगर हम इस अकादमी को बंद ही रहने देते हैं, जबकि हमारे बच्चे अभी भी पढ़ने-लिखने में संघर्ष कर रहे हैं, तो हम असल में प्रदेश का किस तरह का भविष्य बना रहे हैं?❑

एबेल विजेता ने 60 साल पुराना तिलस्म तोड़ा

गर्ड फाल्टिंग्स ने 2026 का 'एबेल' पुरस्कार जीता है, जिसे गणित का नोबेल पुरस्कार माना जाता है। यह पुरस्कार उन्हें एक ऐसी क्रांतिकारी खोज के लिए दिया गया है, जिसने 1983 में गणित की दुनिया में हलचल मचा दी थी।

फाल्टिंग्स की सबसे बड़ी उपलब्धि मोरडेल कंज़क्चर को सिद्ध करना रहा। उन्होंने इसी काम के लिए 1986 में फील्ड्स पदक भी जीता था।

यह एक पुराना प्रमेय है, जिसे सबसे पहले 1922 में लुई मोरडेल ने प्रस्तावित किया था। इस प्रमेय के अनुसार, जैसे-जैसे समीकरण ज़्यादा जटिल होते जाते हैं, उनके हल कम होते जाते हैं।

जर्मनी में मैक्स प्लैंक इंस्टीट्यूट फॉर मैथमेटिक्स में कार्यरत फाल्टिंग्स कहते हैं कि जब उन्हें यह खबर पता चली तो उन्होंने अपने आप को सम्मानित महसूस किया, लेकिन अपनी उपलब्धियों के प्रभाव को लेकर वे संयमित थे। मैंने मॉरडेल अनुमान को हल किया, लेकिन अंत में इससे हम कैंसर या अल्जाइमर का इलाज नहीं कर पाते; यह तो बस चीजों के बारे में हमारे ज्ञान का विस्तार करता है।❑

❑

प्रदीप एस. मेहता

कट्स इंटरनेशनल के महासचिव समाज में घटती सहिष्णुता पर चिंता व्यक्त कर रहे हैं। सं.

समाज में घटती सहिष्णुता: बढ़ती चिंता!

❑

सहिष्णुता - अलग - अलग विचारों, मान्यताओं और जीवन-शैलियों का सम्मान करने और उन्हें स्वीकार करने की क्षमता-लंबे समय से शांतिपूर्ण और प्रगतिशील समाजों की नींव रही है। हालाँकि, हाल के वर्षों में, भारत ने भी दुनिया के कई हिस्सों की तरह, सहिष्णुता में स्पष्ट तौर पर गिरावट देखी है। यह बदलाव राजनीतिक चर्चाओं, सोशल मीडिया और रोज़मर्रा के मेल-जोल में साफ़ दिखाई देता है, जिससे सामाजिक एकता और लोकतांत्रिक स्वास्थ्य को लेकर चिंताएँ बढ़ रही हैं।

सनातन धर्म की मूल भावना ने ऐतिहासिक रूप से सहिष्णुता और सत्य तक पहुँचने के अलग-अलग रास्तों को स्वीकार करने पर ज़ोर दिया है, जो इस विश्वास को दर्शाता है कि अलग-अलग धर्म एक-दूसरे के साथ मेल-जोल से रह सकते हैं।

इस गिरावट का सबसे साफ़ संकेत है बढ़ता हुआ राजनीतिक ध्रुवीकरण। सार्वजनिक बहसें अब ज़्यादा टकराव वाली हो चली हैं, जहाँ मतभेद तेज़ी से दुश्मनी में बदल जाते हैं। नागरिकता नीतियों, चुनावों और क्षेत्रीय पहचान जैसे मुद्दों पर ऐसे विरोध प्रदर्शन हुए हैं जो कभी-कभी हिंसक झड़पों में बदल जाते हैं। यहाँ तक कि अकादमिक और बौद्धिक क्षेत्रों में भी, असहमति को अब ज़्यादा बारीकी से परखा जा रहा है। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण अकादमिक अली खान महमूदबाद का मामला है, जिनके ख़िलाफ़ ऑपरेशन सिंदूर से जुड़ी पोस्ट को लेकर जाँच शुरू की गई थी; हालाँकि, भारत के सुप्रीम कोर्ट ने उन्हें लिखने का अधिकार जारी रखने की अनुमति दी, जिससे अभिव्यक्ति की आज़ादी और सरकारी निगरानी के बीच के तनाव को उजागर किया।

सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म ने असहिष्णुता को हवा दी है। ये प्लेटफ़ॉर्म जो लोगों को आपस में जोड़ने का काम करते हैं, वहीं ये ऐसे इको चैंबर भी बना देते हैं जहां उनके उपयोगकर्ताओं को ज़्यादातर उन्हीं जैसे विचार रखने वाले लोगों के विचार ही दिखाई देते हैं। पत्रकारों, कॉमेडियन और इन्फ़्लुएंसर को उनके राजनीतिक या सांस्कृतिक विचारों के आधार पर ऑनलाइन परेशान करने की घटनाएँ अक्सर वायरल हो जाती हैं; इससे पता चलता है कि डिजिटल दुनिया में अक्सर बातचीत के बजाय गुस्से और हंगामे को ज़्यादा तवज्जो दी जाती है।

सुनियोजित ट्रोलिंग और कैंसल कैंपेन (किसी को पूरी तरह से नकारने के अभियान) खुली चर्चा को हतोत्साहित करते हैं और समाज में दूरियाँ बढ़ाते हैं।

धार्मिक और सांस्कृतिक असहिष्णुता भी एक गंभीर चिंता का विषय बनी हुई है। भारत की विविधता ऐतिहासिक रूप से उसकी ताक़त रही है, फिर भी हाल के वर्षों में यहाँ-वहाँ सांप्रदायिक तनाव देखने को मिला है। साल 2026 में, धार्मिक जुलूसों, पूजा स्थलों और खान-पान की आदतों को लेकर हुए स्थानीय विवादों ने महाराष्ट्र और हरियाणा के कुछ हिस्सों में अशांति फैला दी थी।

वायरल होती गलत जानकारियों ने अक्सर ऐसे संघर्षों को और भी ज़्यादा भड़का दिया है, जिससे छोटे-मोटे मतभेद बड़े टकरावों में बदल गए हैं। यह रुझान भारत की उन दार्शनिक परंपराओं के बिल्कुल विपरीत है जो एक-दूसरे के साथ मिलकर रहने और आपसी सम्मान को बढ़ावा देती हैं।

असहिष्णुता हमारे रोज़मर्रा के जीवन में भी साफ़ दिखाई देती है। भाषा, जाति, लिंग या क्षेत्र के आधार पर होने वाले भेदभाव की ख़बरें लगातार सामने आती रहती हैं। महानगरों में, कुछ राज्यों से आए प्रवासियों को भाषा के इस्तेमाल को लेकर विरोध का सामना करना पड़ा है; वहीं, पहनावे के नियमों और निजी पसंद-नापसंदजिसमें अलग-अलग धर्मों के लोगों के बीच के रिश्ते भी शामिल हैं, को लेकर होने वाली बहसें अक्सर तीखी प्रतिक्रियाओं को जन्म देती हैं।

शैक्षणिक संस्थानों में भी, पाठ्यक्रम और कैंपस में होने वाली सक्रियता को लेकर होने वाले मतभेद, रचनात्मक बातचीत का रूप लेने के बजाय अक्सर टकराव में बदल जाते हैं। इस गिरावट के पीछे कई कारक ज़िम्मेदार हैं। आर्थिक दबाव और नौकरी की अनिश्चितता लोगों की चिंताओं को बढ़ा देते हैं, जिससे वे समाज को बांटने वाली बातों से आसानी से प्रभावित हो जाते हैं। गलत जानकारियों का तेज़ी से फैलना और मीडिया की समझ की कमी, लोगों की सोच को और भी ज़्यादा कट्टर बना देती है। पहचान की राजनीति समाज में दूरियों को और गहरा करती है, जिससे लोग अलग-अलग दृष्टिकोणों को समझने या उन पर विचार करने के लिए कम ही तैयार हो पाते हैं।

सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म ने असहिष्णुता को हवा दी है। ये प्लेटफ़ॉर्म जो लोगों को आपस में जोड़ने का काम करते हैं, वहीं ये ऐसे इको चैंबर भी बना देते हैं जहां उनके उपयोगकर्ताओं को ज़्यादातर उन्हीं जैसे विचार रखने वाले लोगों के विचार ही दिखाई देते हैं। पत्रकारों, कॉमेडियन और इन्फ़्लुएंसर को उनके राजनीतिक या सांस्कृतिक विचारों के आधार पर ऑनलाइन परेशान करने की घटनाएँ अक्सर वायरल हो जाती हैं।

इस चुनौती से निपटने के लिए लगातार और सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता है। हमारी शिक्षा व्यवस्था को आलोचनात्मक सोच, सहानुभूति और विविधता के प्रति सम्मान को प्राथमिकता देनी चाहिए। खुली बातचीत को बढ़ावा देने से अलग-अलग विचारधाराओं के बीच की खाई को पाटा जा सकता है।

मीडिया मंचों को गलत जानकारियों और नफ़रत फैलाने वाले भाषणों पर रोक लगाने के लिए और भी मज़बूत तंत्र बनाने की ज़रूरत है; वहीं, सरकारों और विभिन्न संस्थानों को अभिव्यक्ति की आज़ादी और सबको साथ लेकर चलने जैसे संवैधानिक मूल्यों को हर हाल में बनाए रखना चाहिए।

निष्कर्ष के तौर पर, भारत में सहिष्णुता का कमज़ोर पड़ना एक जटिल, लेकिन बेहद ज़रूरी चुनौती है। सम्मान, बातचीत और सहानुभूति की संस्कृति को फिर से स्थापित करनाजो हमारे संवैधानिक सिद्धांतों और हमारी सभ्यता के मूल्यों, दोनों पर आधारित होएक ज़्यादा समावेशी और मज़बूत भविष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है।❑

खेल बुनियादी ढांचे की कमी सार्वजनिक स्वास्थ्य का जोखिम

कट्स इंटरनेशनल में वरिष्ठ कार्यक्रम अधिकारी उस तरफ ध्यान दिला रहे हैं जिस तरफ नीति निर्माताओं का ध्यान अक्सर नहीं जाता है। सं.

❑ अमरदीप सिंह

प्रति वर्ष 6 अप्रेल को मनाया जाने वाला विकास और शांति के लिए खेल का अंतर्राष्ट्रीय दिवस इस बात की याद दिलाता है कि खेल स्वस्थ और ज़्यादा समावेशी समाज बनाने में मदद करते हैं। मगर हम पाते हैं कि हमारे शहरों में खेल के बुनियादी ढांचे की लगातार उपेक्षा हो रही है। शहरों के आयोजन में खेल के मैदान और सामुदायिक खेल सुविधाओं को किनारे कर दिया गया है।

अब यह बात लोग समझने लगे हैं कि खेल सिर्फ़ मनोरंजन का साधन नहीं है। यह एक आर्थिक गतिविधि भी है। राजस्थान के खेल मंत्री राज्यवर्धन सिंह राठौड़ ने हाल ही में कहा कि खेल अब एक अर्थव्यवस्था बन गया है, जिसमें रोज़गार, पर्यटन और निवेश पैदा करने की अपार क्षमता है। लेकिन, जब तक शहर अपने मोहल्लों में खेल के बुनियादी ढांचे का व्यापक विस्तार नहीं करेंगे, तब तक ऐसी पहलों का असर सीमित ही रहेगा।

दुनिया भर में शहरी स्वास्थ्य पर हुए अध्ययनों से पता चलता है कि सुरक्षित और सुलभ खुली जगहों की कमी इस लक्ष्य को हासिल करने में एक बड़ी बाधा है, खासकर कम और मध्यम आय वाले देशों में। यूएन हैबिटैट की सलाह है कि शहरी ज़मीन का 15 से 20 प्रतिशत हिस्सा खुली और सार्वजनिक जगहों, जिनमें पार्क और खेल के मैदान शामिल हैंके लिए आरक्षित किया जाना चाहिए। भारत के कई शहर इस लक्ष्य को पूरा करने में पीछे रह जाते हैं। अधिकृत गाइडलाइंस के अनुसार, हर व्यक्ति के लिए लगभग 10 से 12 वर्ग मीटर खुली जगह होनी चाहिए। ज़्यादातर शहर इस मानक को भी पूरा नहीं कर पाते। जहां पार्क हैं, वहां भी खेल के मैदान बहुत कम हैं। बेंचों वाला एक सजा-संवरा पार्क, कोर्ट, गोलपोस्ट, नेट और कसरत के सामान से लैस ऐसा स्थान खेल के मैदान की जगह नहीं ले सकता।

सुस्त जीवनशैली, स्क्रीन पर ज़्यादा समय बिताना और बाहर की गतिविधियों में कमी, इस समस्या के कुछ मुख्य कारण हैं। आस-पड़ोस के खेल के मैदान इस बढ़ते चलन को रोकने में मदद कर सकते हैं। ये सिर्फ़ सजावटी चीज़ें नहीं हैं। बल्कि ये निवारक स्वास्थ्य, आपसी मेलजोल और युवाओं के विकास में किया गया एक निवेश हैं।

खेलों में बेहतरीन प्रदर्शन के नज़रिए से भी खेल इंफ्रास्ट्रक्चर बहुत ज़रूरी है। जो देश इंटरनेशनल मुकाबलों में अच्छा प्रदर्शन करते हैं, वे ज़मीनी स्तर के इकोसिस्टम में निवेश करते हैं। अगर आस-पड़ोस में ही सुविधाएं न हों, तो ओलंपिक में कामयाबी पाने की चाहत सिर्फ़ सपना बनकर रह जाएगी।

शहरी प्रशासन को अपनी प्राथमिकताओं में बदलाव लाना होगा। मनोरंजन से जुड़े इंफ्रास्ट्रक्चर को सड़कों, पानी की सप्लाई और साफ़-सफ़ाई की तरह ही एक ज़रूरी नागरिक सुविधा मानने से ही काम बनेगा। स्कूल पढ़ाई के समय के बाद अपने खेल के मैदानों को कम्युनिटी को इस्तेमाल करने दें इसके लिए उन्हें प्रोत्साहन देना होगा। मौजूदा खुली जगहों की भी जीपीएस मैपिंग करके उनकी पहचान की जा सकती है और जहां नागरिकों के समूह उनका रखरखाव करे और खेलों को प्रोत्साहन दे।

विकास और शांति के लिए खेल का 'अन्तराष्ट्रीय दिवस' हमें याद दिलाता है कि खेल कोई विलासिता की चीज़ नहीं है। यह सभी को साथ जोड़ने, सेहत और सामाजिक एकता का एक ज़रिया है। स्वस्थ शहर स्वस्थ नागरिक बनाते हैं, और स्वस्थ नागरिक ही देश को मज़बूत बनाते हैं। आस-पड़ोस के खेल के मैदानों में निवेश करना कोई फ़ालतू का खर्च नहीं है। यह तो सार्वजनिक स्वास्थ्य, युवाओं के लिए मौकों और भारत के खेल भविष्य में किया गया एक निवेश है। ❑

छवियों का रहस्यमय संसार

ऑक्सफ़ोर्ड में कुछ समय पहले लगी एक प्रदर्शनी की समीक्षा करते हुए प्रमुख संपादक लेखक बता रहे हैं कि किस प्रकार फोटोग्राफी माध्यम के शुरुआती दिनों से ही यथार्थ अपने हिसाब से ढाला जाता रहा है। सं.

जब आप 'अ न्यू पावर: फोटोग्राफी इन ब्रिटेन 1800–1850' प्रदर्शनी में दाखिल होते हैं, तो सबसे पहली चीज़ जो आपको दिखाई देती है, वह असल में कोई फ़ोटो नहीं है। यह एक तेल-चित्र है जिसमें एक गोरा-चिट्टा आदमी, बड़े सलीके से कपड़े पहने और बाल संवारे हुए नज़र आता है; उसका एक हाथ एक छोटे से लकड़ी के बक्से पर टिका है, और दूसरे हाथ से वह उस बक्से के पीतल के लेंस से ढक्कन हटा रहा है: उसके पास एक नया 'डैग्युरोटाइप' कैमरा है, जो आधुनिक फ़ोटोग्राफ़ी का पहला उपकरण था।

हालांकि यह चित्र देखने में काफ़ी सीधा-सादा लगता है, लेकिन इसका असर किसी ज़ोरदार चपत जैसा है: अब तेल-चित्रकारों की किसे ज़रूरत है? उन पर कौन भरोसा करेगा? जब हमारे पास फ़ोटोग्राफ़र मौजूद हैं, जो एकदम सटीक, निष्पक्ष और तुरंत तस्वीरें खींचते हैं? दुश्मन पर ताने गए इस लेंस को तोप के गोले जैसा दिखाई देने के पीछे एक खास वजह है। अगर उस आदमी ने लेंस से ढक्कन हटा दिया है, तो इसका मतलब है कि वह फ़ोटो खींच रहा है, उस चित्रकार की, और हमारी भी। वह गुमनाम चित्रकार मानो हमसे, यानी दर्शकों से कह रहा हो: देखो, वह छोटा-सा बक्सा अब तुम्हारी तरफ़ भी बढ़ रहा है।

ऑक्सफ़ोर्ड की 'वेस्टन लाइब्रेरी' में लगी यह छोटी और हैरान कर देने वाली प्रदर्शनी दिखाती है कि यह 'बक्सा' तो महारानी विक्टोरिया तक के पीछे पड़ गया था। साल 1852 में, महारानी और उनके पांच बच्चों ने एक 'डैग्युरोटाइप' फ़ोटो खिंचवाई थी। (फ़ोटो कैमरे में रखी गई, रसायन-लेपित चांदी की परत वाली तांबे की एक चादर पर रोशनी डालकर तैयार की जाती थी।) यह फ़ोटो विलियम एडवर्ड किलबर्न के 'रीजेंट स्ट्रीट' स्थित स्टूडियो में खींची गई थी। किलबर्न उन कई उद्यमी-कलाकारों में से एक थे, जो उस दौर में समाज को अपनी 'हाई-टेक' सेवाएं देने के लिए अचानक सामने आए थे। लेकिन, फ़ोटोग्राफ़र ने जब फ़ोटो खींची, तब महारानी की आंखें बंद थीं। इसे महारानी ने अपनी

महारानी विक्टोरिया को 1852 में बना अपना यह चित्र पसंद नहीं आया था, इसलिए उन्होंने अपने ही चेहरे को खुरचकर मिटा दिया।

हंगरी के निर्वासित नेता लाजोस कोसुथ

डायरी में बेहद घटिया बताया। इससे चिढ़कर, उन्होंने तैयार फ़ोटो में से अपने चेहरे को खुरचकर मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि फ़ोटो में एक बेहद डरावनी और बिना सिर वाली आकृति नज़र आने लगीजो एक छोटे राजकुमार के सिर पर प्यार से हाथ फेर रही थी। तस्वीर को बिगाड़कर, महारानी विक्टोरिया गुस्से में बस वही कर रही थी जो दूसरे लोग जान-बूझकर करते थे: तस्वीरों में हेर-फेर करना। इस प्रदर्शनी का सबसे बड़ा सबक ठीक उसका उल्टा है जिसका डर शायद उस अनजान चित्रकार को था: फोटोग्राफी सटीक और निष्पक्ष होने के बजाय कुछ भी हो सकती थी। जिस तकनीक को दुनिया को जैसी है वैसी ही कैद करने के लिए बनाया गया था उसका इस्तेमाल प्रोपेगैंडा और मुनाफे के लिए किया जा सकता था। कला समीक्षक जॉन रस्किन ने कहा था कि एक डैग्यूरोटाइप लगभग वैसा ही है जैसे किसी महल को ही उठाकर ले जाना। मगर वह इंसानी इरादों और भावनाओं के उस उलझे हुए घालमेल का शिकार हो गई, जो असलियत को अपनी चाहत के हिसाब से मोड़ देती है।

डैग्यूरोटाइप नाजुक और महंगे होते थे, इसलिए ज़्यादातर लोगों की उन तक पहुंच नहीं थी; जानकारी पहुंचाने का मुख्य ज़रिया अखबारों और पत्रिकाओं में किसी एनग्रेवर (नक्काशी करने वाले) द्वारा उनकी नकल बनाना था, जो लाइन ड्रॉइंग होती थीं जिनके साथ यह जुमला लिखा होता था कि डैग्यूरोटाइप के आधार पर एनग्रेव किया गया है, ताकि उनकी सटीकता की पुष्टि हो सके।

फिर भी, अलग-अलग तस्वीरों से आकृतियों को आसानी से काटकर और चिपकाकर एक आखिरी एनग्रेविंग में डाला जा सकता था, या कलाकार की पसंद के हिसाब से उन्हें फिर से व्यवस्थित किया जा सकता था।

हंगरी साम्राज्य के निर्वासित रीजेंट-प्रेसिडेंट, लाजोस कोसुथ का एंटोनी क्लॉडेट के स्टूडियो में खींचा गया एक डैग्यूरोटाइप, जब वे एक स्वतंत्र हंगरी के लिए चंदा इकट्ठा कर रहे थे, तो बार-बार छापा गया, लेकिन

'लंदन लेबर एंड द लंदन पुअर' (1851)

उसमें धीरे-धीरे बदलाव किए गए: 1851 की एक एनग्रेविंग में, उनका हाथ बालकनी की रेलिंग पर टिका हुआ है; एक साल बाद, उनके हाथ में एक स्क्रॉल (कागज़ का पुलिंदा) है। असल बात यह है कि फोटोग्राफी ने शुरू से ही दर्शकों से ज़्यादा भरोसे और आलोचनात्मक नज़रिए की मांग की।

ऐसा नहीं था कि सिर्फ़ अमीर और ताक़तवर लोग ही डैग्यूरोटाइप कैमरे के लेंस के सामने आए। पत्रकार हेनरी मेहेव की रिपोर्टिंग में, जिसे 'लंदन लेबर एंड द लंदन पुअर' (1851) में संकलित किया गया है। वे उन लोगों से मिले जो विक्टोरियन इंग्लैंड के सबसे निचले दर्जे के लोग थे, जैसे कबाड़ी, सीवर-हंटर, बरिस्ता आदि। मेहेव की किताब में एक कॉफ़ी बेचने वाला कहता है, रोटी-रोज़ी कमाने का संघर्ष इतना बड़ा है कि सिर्फ़ वही लोग कुछ कमा पाते हैं जिन्हें अच्छी 'जगह' मिल जाती है। इस किताब में उसकी तस्वीर एक डैग्यूरोटाइप के आधार पर बनी नक्काशी में दिखाई गई है, जिसमें वह अपनी दुकान पर रखे एक बर्तन से कप में कॉफ़ी डाल रहा है। हालाँकि इस प्रदर्शनी में मेहेव की किताब की कई तस्वीरें कार्टून जैसी नहीं हैं, फिर भी हम यह पक्के तौर पर नहीं कह सकते कि उनमें दया-भाव बिल्कुल भी नहीं है।

जनवरी 1839 में लुई डैग्युर ने जब फ़ोटोग्राफ़ी के आविष्कार की घोषणा की, तो उनके कई प्रतिद्वंद्वी भी सामने आ गए, जिन्होंने खुद भी फ़ोटोग्राफ़ी का आविष्कार किया था। इसके कुछ ही समय बाद, अंग्रेज़ वैज्ञानिक विलियम हेनरी फ़ॉक्स टैलबोट ने भी अपनी प्रक्रिया की

जेनी लिंड का चित्र (1848)

घोषणा करने में तेज़ी दिखाई। उन्होंने इसे 'फ़ोटोजेनिक ड्रॉइंग' नाम दिया। इस प्रक्रिया में धातु की प्लेटों के बजाय कागज़ का इस्तेमाल होता था; कागज़ को पहले हल्के नमक वाले पानी में भिगोया जाता था, फिर उस पर सिल्वर नाइट्रेट का घोल लगाया जाता था, और उसके बाद उसे रोशनी के संपर्क में लाया जाता था। जल्द ही उन्होंने इस प्रक्रिया को और बेहतर बनाकर 'कैलियोटाइप' प्रक्रिया का रूप दे दिया, जिसमें तस्वीर खींचने के लिए कम समय की ज़रूरत पड़ती थी।

उन्होंने इसे पूरी तरह से परिष्कृत नहीं किया था। 1846 में, 'आर्ट-यूनियन' पत्रिका ने टैलबोट से प्रिंट्स मांगे, जो कैलोटाइप नेगेटिव्स पर आधारित थे; इन्हें एक संस्करण में उनके काम की प्रक्रिया पर लिखे एक निबंध के ठीक सामने लगाया जाना था। टैलबोट और उनके पूर्व नौकरजो अब एक फोटोग्राफिक प्रिंटर बन चुके थेनिकोलस हेनेमैन ने जल्दी ही इन प्रिंट्स को तैयार कर दिया, लेकिन वे उतनी ही तेज़ी से फीके भी पड़ गए।

अगर मैं यह कहूं कि यहां प्रदर्शित तीन नमूनों में देखने लायक कुछ भी नहीं है, तो इसे आलोचना के तौर पर न लिया जाए। उनमें से एक तस्वीर में दिख रहे एक गोथिक इमारत के पतले और धुंधले खंभे, टैलबोट की तकनीकी विफलता और उसके परिणामस्वरूप हुई आर्थिक तबाही की गवाही देते हैं। अपने जीवन के अंतिम 30 वर्षों में, उन्होंने फिर कभी कोई तस्वीर नहीं खींची। लेकिन उन्होंने जिस चीज़ की नींव रखी थी, उसे पूरी दुनिया ने देखा। 1851 की 'ग्रेट एग्ज़िबिशन' में फोटोग्राफी की प्रक्रिया को आधिकारिक मान्यता मिली जहां ब्रिटिश साम्राज्य के कोने-कोने से, और उसके बाहर से भी, प्रदर्शक अपनी बेहतरीन चीज़ों को लंदन के 'हाइड पार्क' में लेकर इकट्ठा हुए थे।

पंखों से भरी एक अलमारी की एक बेहद आकर्षक तस्वीर, जिसमें सभी पंख अमूर्त घुमावों की तरह दिखते हैं, 'मैन रे' की 'सर्रियल' (अतियथार्थवादी) छवियों के आने से 70 साल पहले ही उसकी झलक दिखा देती हैं।

इस तरह की शाही परियोजनाओं में कैमरे का इस्तेमाल, साथ ही शाही प्रजा की अजीबोगरीब या चौंकाने वाली रस्मों-रिवाजों के बारे में लिखे गए मानवशास्त्रीय निबंधों को चित्रित करने के लिए इसका उपयोग, यह दर्शाता है कि फोटोग्राफी विचारधारा का एक हथियार भी बन सकती थी और किसी भी अन्य तकनीक की तरह इसका भी गलत इस्तेमाल किया जा सकता था, लेकिन शायद इसकी निष्पक्षता के अंतर्निहित वादे के कारण यह और भी अधिक शक्तिशाली साबित हुई।

हालांकि, यह वास्तव में कभी भी पूरी तरह निष्पक्ष नहीं थी, या कम से कम उतनी निष्पक्ष तो बिल्कुल नहीं, जितनी कि इंसान की आंख होती है। इसमें दस्तावेज़ी तस्वीरें खींचने की प्रभावशाली क्षमता थी। जैसे कि 1848 में राजनीतिक सुधारों के लिए हुई 'चार्टिस्ट रैली' में उमड़ी विशाल भीड़ की तस्वीरें; इन तस्वीरों में आश्चर्यजनक रूप से बारीक विवरण दिखाई देते हैं ऊंची टोपियां और बैनर तक साफ़-साफ़ पहचाने जा सकते हैं।

साथ ही, इसमें कला के बेहद मनमोहक और दीप्तिमान नमूने रचने की भी क्षमता थी जैसा कि एडवर्ड किलबरन द्वारा स्वीडिश ओपेरा गायिका जेनी लिंड के चित्र में देखा जा सकता है; इस चित्र में जेनी को साक्षात रूप में और दर्पण में उनके प्रतिबिंब के रूप मेंदोनों तरह से कैद किया गया है। यहां दर्पण इस बात को स्वीकार करता है कि यह पूरी स्थिति एक कृत्रिम रचना है यह उस 'छवियों के संसार' का ही एक हिस्सा है, जिसे कैमरे ने रचा था। 'छवियों का वह संसार', जिसमें हम आज भी जी रहे हैं। ❑

❑

जोश स्पेरो

शब्द ही जनचेतना के महाकाव्य बनते हैं!

❑

वेदव्यास

यह आलेख एक वरिष्ठ साहित्यकार का तंज है, जिसमें भविष्य की आशा भी दमकती है। सं.

❑

जिस तरह बहता हुआ पानी और बोलता हुआ शब्द अपना रास्ता खुद बनाते हैं उसी तरह साहित्य में समाज और समय का संवाद भी अनवरत जारी रहता है। कौन लिखता है कौन पढ़ता है और कौन बोलता है उसकी प्रतिध्वनियां ही मनुष्य के मन और विचार में संवेदना का संसार रचती हैं। ज्ञान और विज्ञान के सभी विकास और सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समता और विषमता के सभी कुरुक्षेत्र, केवल सृजन और संघर्ष से उदित शब्द ही लड़ते हैं।

आज 21वीं शताब्दी के सूचना और प्रौद्योगिकी के हृदयहीन बाजार में इसीलिए हमें कभी-कभी ऐसी भी लगने लगता है कि शायद शब्द कहीं खो गए हैं, मौन हो गए हैं या फिर संवेदनहीन हो गए हैं। लेकिन, समय का प्रत्येक सत्य, आज भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच अकेला ही संचरण कर रहा है और सृजन के नित्य नए सेतु और वाद-विवाद तथा प्रतिवाद के आधार भी बना रहा है। साहित्य से समाज तक की यह शब्द यात्रा परिवर्तन की एक ऐसी मशाल हैं जो हजारों भाषाओं के साथ करोड़ों की जन चेतना में सद्भाव, सहिष्णुता और मानवीय सरोकारों की खिड़कियां खोलती रहती है। कोई पांच हजार साल से सभ्यता और संस्कृति का उज्जवल पथ यह साहित्य ही आलोकित कर रहा है क्योंकि शब्द कभी मरता नहीं है और नूतन विचरण करता रहता है।

राजस्थान को भारत और भारत को विश्व यह साहित्य ही सत्य, शिव और सुंदरम् बनाता है और धर्म, जाति भाषा और क्षेत्रीयता की सरहदों को लांघकर शाश्वत शक्ति और भक्ति का निर्माण भी करता है।

कोई दो हजार वर्ष की शब्द और साहित्य की चेतना बताती हैं कि राजपाट और सुख-दुःख बदलते रहते हैं, लेकिन रेत और पानी का रिश्ता कभी नहीं बदलता।

हमारे समाज में आज दुर्भाग्य से मनुष्य और प्रकृति के बीच एक ऐसा मनमुटाव बढ़ रहा है जिसमें लोग अपने भूत, भविष्य और वर्तमान की त्रिकाल छाया से ग्रस्त है और सामाजिक, आर्थिक गैर बराबरी के जलवायु परिवर्तन से व्याकुल और शोकाकुल हो रहे हैं। इधर टैक्नोलॉजी मनुष्य को लगातार दिशाहीन और पैसे के पीछे पागल बन रहे समाज को संवेदनहीन और हमारे जीवन दर्शन को अत्यधिक असुरक्षित बना रही है। ऊपर से सत्ता और व्यवस्था की आदिम हिंसक प्रवृत्तियां, शब्द और और सत्य पर निरंतर हमले कर रही हैं। अराजकता के बीच अविश्वनीयता का एक ऐसा माहौल बन गया है जैसे वर्षा ऋतु में कोयल मौन हो जाती है और मेंढ़क मुकर-वाचाल हो जाते हैं। लेखक और

साहित्यकार भी बाजार, मीडिया और राजनीति के कोलाहल में अपने को अनुसना महसूस कर रहे हैं।

शब्द की सरस्वती भी समय और अज्ञान के अंधेरे में कई बार मन से ओझल हो जाती है लेकिन वह देर-सेवर बूंद-बूंद बनकर, जीवन का सृजन भी करती है और जन्म से मृत्यु तक मनुष्य की प्राण वायु बनकर बोलती भी है। वैदिक ऋचाओं से लेकर मीरां बाई के पदों तक और महाभारत से लेकर रामायण तक शब्द ही साहित्य और समाज को समय के सभी प्रश्नों से मुठभेड़ करना सिखाता रहा है। शब्द जब निर्गुण और सगुणधारा बनकर बहते हैं तो यह सृजन का सरोकार ही कभी युद्ध और शांति का भाग्य लिखता है, तो कभी क्रोंचवध ही किसी शिकारी को ऋषि वाल्मीकि बनाता है। शब्द ही कभी रवीन्द्रनाथ बनकर घर-घर में गाया जाता है तो कभी स्वामी विवेकानंद बनकर विश्व को धर्म की सनातन सहिष्णु व्याख्या देता है तो कभी भीमराव अंबेडकर बनकर मनुष्य होने का अधिकार और सम्मान भी सिखाता है। इस तरह शब्द कभी निरर्थक, लाचार और उदास नहीं होता तथा वह उपेक्षा और विस्मृति के गर्भ में रहकर भी अधिक प्रखर और अमृतधारा बन जाता है।

शब्द और साहित्य का लोकतंत्र-सदैव राजनीति के आगे चलने वाली मशाल ही होता है और राजा की हिंसा में नहीं अपितु प्रजा (जनता) की अहिंसा में ही फलता-फूलता है। सामाजिक चेतना का प्रथम सृजनकर्ता और निर्माता यह शब्द ही है और साहित्यकार इसी पुनर्जागरण का प्रतिफल रचता और गाता है क्योंकि मनुष्य का शाश्वत सत्य तो गरीब और सर्वहारा की मंगलध्वनि में ही युगों-युगों तक प्रवाहमान बना रहा है।

शब्द और साहित्य को समाज के भीतर व्याप्त गैर बराबरी, हिंसा-प्रतिहिंसा और झूठ-सच को उजागर करने में अर्पित करते हुए वर्तमान समाज को भविष्य का नया सपना देने की जरूरत है। शब्द और साहित्य की प्रासंगिकता इसी बात में है कि यथास्थिति को बदलने का जोखिम उठाया जाए। रागदरबारी को छोड़कर राग भैरवी और राग कल्याणी गायें। मनुष्य होने की गरिमा का महाकाव्य सुनाएं और दसों-दिशाओं में व्याप्त मुक्ति संग्राम की जनचेतना को एकजुट बनाएं। ❑

समिति में एक अल्लामा शाइर की याद

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में पांच अप्रेल को गुज़रे जमाने के मकबूल शाइर रम्ज़ी इटावी को उनकी पुण्यतिथि पर शिद्दत से याद किया गया और उनके विशाल काम को संकलित कर उसे नई पीढ़ी तक पहुचाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। हिंदुस्तान की जानी-मानी शाइरा मलका नसीम का कहना था कि पिछली सदी के चौथे से आठवें दशक तक रम्ज़ी साहब का डंका बजा करता था। शाइर व आलोचक मोहम्मद हुसैन का कहना था कि उस जमाने में उर्दू और अंग्रेजी में एम.ए. किए हुए रम्ज़ी को अपने फन का अल्लामा कहा जा सकता है। व्यंगकार, लेखक और आलोचक फ़ारूक आफ़रीदी का कहना था कि अपने पुरोधाओं को याद करके हम अपनी आगे की राह आसान बनाते हैं। हमारी तहज़ीब बची रहेगी तभी हम भी बचेंगे। शाइरा व पत्रकार ज़ीनत कैफ़ी ने रम्ज़ी के काम पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए कहा कि उस शाइर ने राजस्थान की धरती पर उर्दू और फारसी की परंपरा को बचाए रखा।

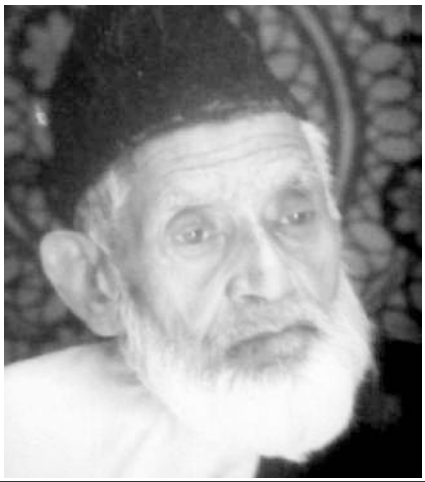

गोष्ठी के सूत्रधार पत्रकार एम.आई. ज़ाहिर ने बताया कि इटावा में 1912 में जन्मे रम्ज़ी 1932 में जोधपुर आए और यहीं के हो कर रह गए। उन्होंने 2002 में जोधपुर में ही अंतिम सांस ली।

इस मौके पर एक छोटा सा मुशायरा भी हुआ जिनमें अन्यों के अलावा आधुनिक उर्दू शायरी के हस्ताक्षर आदिल रज़ा 'मंसूरी' तथा प्रसारण क्षेत्र में नाम कमाने वाली रेशमा खान ने भी अपने कलाम पढे।❑

डिजिटल युग में क्या छपी किताबों के पाठक बचे रहेंगे?

❑

❑

शॉन हू

इस पोस्ट-साक्षरता युग में क्या पठन-पाठन बचा रह पाएगा? इसी पर सिंगापुर के पुस्तक और कला समीक्षक विचार रख रहे हैं। सं.

डिजिटल मीडिया की बाढ़ ने गुटेनबर्ग प्रेस की वजह से साक्षरता में हुई प्रगति को उलट दिया है। समाज ज़्यादा तस्वीरों और कम किताबों से घिर गया है। कोई भी तब तक ध्यान नहीं देता, जब तक जानकारी किसी जिंगल और किसी जाने-माने सेलिब्रेटी के साथ पेश न की जाए। यह पोस्ट-लिटरेसी का युग है।

लेकिन, यह आज स्क्रीन के आदी लोगों के दिमाग को खराब करने वाला ब्रेन-रॉट (दिमागी सड़न) नहीं है। यह वह निदान है, जो 1962 में दार्शनिक मार्शल मैकलुहान ने किया था, जब उन्होंने 'द गुटेनबर्ग गैलेक्सी' लिखी थी; और फिर 1985 में, जब मीडिया सिद्धांतकार नील पोस्टमैन ने 'अम्यूजिंग आवरसेल्व्स टू डेथ' प्रकाशित की थी।

इन दो बुनियादी किताबों में एक ने ऐसी दुनिया का वर्णन किया गया था, जहां साक्षरता पर टेलीविज़न और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया जैसी चीज़ों का साया पड़ रहा था। और यह सब तब हुआ था, जब आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस तब इतना बड़ा नहीं बना था। आज के युग ने, जिसमें चैटजीपीटी जैसी जवाब देने वाली मशीनें मौजूद हैं, ने उस चिंता को फिर से जगा दिया है।

इन बड़े लैंग्वेज मॉडल्स के आने से, पढ़ने की वह आदत, जिसे इंसान सदियों से जानता आया है, अब खत्म होने की कगार पर है। मुश्किल किताबों को गहराई से पढ़ने का काम अब मशीनों को सौंपा जा सकता है, जो कुछ ही सेकंड में पूरी की पूरी किताब का सारांश बता सकती हैं।

इसके अलावा, आजकल लगभग हर बड़ा सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म छोटे वीडियो कंटेंट को ज़्यादा अहमियत देता है। नतीजतन, लोगों का ध्यान केंद्रित करने का समय बहुत कम हो गया है। एक अध्ययन के मुताबिक, इंसानों का औसत ध्यान केंद्रित करने का समय 2003 में 150 सेकंड से घटकर 2025 में 40 सेकंड रह गया है।

पसंद से पढ़ने की दर भी दुनिया भर में कम हो गई है। अमेरिका में, 2003 से 2023 के बीच अपनी पसंद से पढ़ने की आदत में 40 प्रतिशत से ज़्यादा की गिरावट आई है; वहीं ब्रिटेन में, नेशनल लिटरेसी ट्रस्ट के 2025 के सर्वे से पता चला है कि अपनी पसंद से पढ़ने की आदत वहां पिछले 20 सालों में सबसे निचले स्तर पर पहुंच गई है।

एक बार फिर किताबों और साक्षरता के लिए खतरे की घंटी बज रही है। फिर भी, जब कोई इस बात पर गौर करता है कि पढ़ने की संस्कृति ऐतिहासिक रूप से कैसे विकसित हुई है, तो पढ़ने का भविष्य कहीं अधिक जटिल दिखाई देता है।

यह 1998 की बात है जब 'सॉफ्टबुक' जैसा ई-बुक रीडर पहली बार बाज़ार में आया, और हॉरर लेखक स्टीफन किंग ने पहली बड़े पैमाने पर बिकने वाली ई-बुक प्रकाशित करके इतिहास रच दिया। तब से, यह फ़ॉर्मेट एक ऐसी नई-नवेली चीज़ से, जो भौतिक किताबों को पूरी तरह खत्म करने की धमकी देती थी, आज पढ़ने की आदतों का एक सामान्य और ज़रूरी हिस्सा बन गया है।

लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद भी, इलेक्ट्रॉनिक क्रांति अभी पूरी नहीं हुई है। वैश्विक डिजिटल मांग के रिकॉर्ड लगातार बन रहे हैं। उदाहरण के लिए, 2025 में, दुनिया भर के एक प्रमुख डिजिटल वितरक 'ओवरड्राइव' ने अपने डिजिटल टाइटल्स के 820 मिलियन चेकआउट का एक अभूतपूर्व आंकड़ा दर्ज किया।

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) में तेज़ी से प्रगति हो रही है - भले ही इस पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह पढ़ने की एक और क्रांति को बढ़ावा दे रहा है, ठीक उसी तरह जैसे ई-बुक्स ने किया था। 2022 में चैटजीपीटी के लॉन्च होने के बाद से, किताबें भी इसके साथ-साथ विकसित हुई हैं और अब वे खुद इंटरैक्टिव चैटबॉट की तरह काम करने लगी हैं।

जिन पाठकों के पास किसी लेखक के भारी-भरकम ग्रंथ को विस्तार से पढ़ने का समय नहीं था उन्हें 2024 में एक मौका मिला। वे उस ग्रंथ के बारे में अख-संचालित चैटबॉट से सीधे सवाल पूछ सकते थे और किताब को वास्तविक समय में जवाब देते हुए सुन सकते थे।

अमेज़न के किन्डल ने भी एक 'इन-बुक एआई-असिस्टेड फ़ीचर' लॉन्च किया, जिसका नाम है 'आस्क दिस बुक' (इस किताब से पूछें)। यह फ़ीचर पाठकों को कहानी के मुख्य बिंदुओं को दोहराने या किरदारों के बारे में किसी भी तरह की उलझन को दूर करने में मदद करने का वादा करता है और वह भी बिना किताब का एक भी पन्ना पीछे पलटे। ये दोनों ही इस बात के उदाहरण हैं कि किस तरह किताबें पढ़ने के आज के तरीकों के साथ तालमेल बिठाने की कोशिश कर रही हैं, जो कि अब टुकड़ों में और एक सीधी रेखा में न चलकर अलग-अलग तरीकों से पढ़ी जाती हैं।

पुरानी तकनीक को नई तकनीक के साथ कदम से कदम मिलाकर चलाने की ये कोशिशें विवादों से परे नहीं हैं, क्योंकि इंसानी लेखक तेज़ी से मशीनी प्रतिद्वंद्वियों के लिए जगह छोड़ते जा रहे हैं। न्यूयॉर्क स्थित 'ऑथर्स गिल्ड' ने दिसंबर 2025 में चिंता जताई कि अमेज़न एकतरफ़ा ढंग से किताबों को खोजने योग्य, इंटरैक्टिव उत्पादों में बदल रहा है।

टिकटॉक और इंस्टाग्राम पर छोटे वीडियो (रील्स) का बढ़ता दबदबा अब किताबों की दुनिया में भी फैल रहा है। अब नई टेक्नोलॉजी खास चश्मों के ज़रिए दुनिया का पहला 'ऑगमेंटेड रीडिंग एक्सपीरियंस' (पढ़ने का एक नया और उन्नत अनुभव) तैयार कर रही है। आने वाले समय में, कोई भी व्यक्ति न सिर्फ़ किसी डरावनी किताब का टेक्स्ट पढ़ पाएगा, बल्कि उसके राक्षस को भी उसकी पूरी भयानक भव्यता के साथ और पृष्ठभूमि में संगीत के साथ देख भी पाएगा।

आज के समय में, जब लोगों का ध्यान बहुत कम समय तक टिकता है; मोटी-मोटी किताबें उन्हें डराती हैं; और टेक्स्ट के बड़े-बड़े पैराग्राफ संभावित पाठकों को दूर रखते हैं, ऐसे में पढ़ने के भविष्योन्मुखी तरीके सामने आ रहे हैं।

तकनीक के प्रति आशावादी लोगों को उम्मीद है कि कोई अधिक सुगम चीज़ जैसे कि तस्वीरों से तुरंत मिलने वाली अनुभूति, या ऐसे सकारात्मक चैटबॉट जो उत्साह बढ़ाने वालों (चीयरलीडर्स) की तरह काम करते हैं पढ़ने की आदत को बढ़ावा देने का ज़रिया बन सकते है। किताबों की संस्कृति में आई यह नई क्रांति अभी अपने शुरुआती दौर में है, इसलिए इस बारे में पक्के तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता कि यह लंबे समय तक टिक पाएगी या नहीं।

लेखक जे.आर.आर. टॉल्किन कहते हैं कि आज का बहुत ज़्यादा

उत्तेजना वाला दौर सिर्फ़ किताबों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि हमारी कई इंद्रियों को एक साथ जोड़ता है। उदाहरण के लिए, डिजिटल कहानी कहने वाले एक स्टूडियो ने हाल ही में सिंगापुर के साइंस फ़िक्शन लेखक विक्टर फर्नांडो आर. ओकाम्पो की एक छोटी कहानी को एक ऐसे गेम में बदल दिया जिसमें आप अपनी कहानी खुद चुन सकते हैं।

डिजिटलीकरण ने पढ़ने की आदत को खत्म नहीं किया है, बल्कि आज पढ़ने का जो मतलब है, उसे पूरी तरह से बदल दिया है। यह भी, क्रांतियों की तरह है जब प्रिंटिंग प्रेस ने किताबों को आम लोगों तक पहुँचाने का काम किया था, और बड़े पैमाने पर पढ़ने की संस्कृति को जन्म दिया था। मगर उसने हाथ से लिखी पांडुलिपियों को बेकार कर दिया।

एक और विरोधाभास जिस पर विचार करना आवश्यक है, वह यह है कि एल्गोरिदम और मल्टीमीडिया का उत्तेजना का युग स्वयं एक प्रति-क्रांति के बीज बो रहा है।

एल्गोरिदम की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। सिंगापूर के नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन में किशोरों के पढ़ने की आदतों का अध्ययन करने वाली एसोसिएट प्रोफ़ेसर लोह चिन ई कहती हैं कि जहाँ कुछ छात्रों को सोशल मीडिया पर किताबों के सुझाव मिल सकते हैं, वहीं ये एल्गोरिदम खुद ही चुनने वाले हो सकते हैं। युवा पाठकों के लिए, उनका मानना है कि स्कूल के लाइब्रेरियन को बुक मैचिंग सेवाओं के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, ताकि युवा पाठकों को पता चल सके कि उन्हें कहां से शुरुआत करनी है। आज के ज़माने में, इंसानी विशेषज्ञता दिमाग को उस तरह से खोल सकती है, जैसा एल्गोरिदम नहीं कर सकते।

हैरानी की बात है कि उनके 2022 के अध्ययन में पाया गया कि किशोर आज भी छपी हुई किताबें पढ़ना ज़्यादा पसंद करते हैं, भले ही वे दूसरी तरह की पढ़ाई के लिए डिजिटल डिवाइस इस्तेमाल करते हों। एक साधारण किताब में एक ऐसा आकर्षण होता है जो डिजिटल दुनिया में पले-बढ़े लोगों को भी अपनी ओर खींचता है।

यह सच है कि पढ़ने की संस्कृति आज एक संज्ञानात्मक चौराहे पर खड़ी है, लेकिन दोनों रास्तों पर चलना और क्रांति तथा प्रति-क्रांति, दोनों के लाभ उठाना संभव है। संज्ञानात्मक न्यूरोसाइंटिस्ट मैरिएन वुल्फ का मानना है कि यह बेहद ज़रूरी है। अपनी किताब 'रीडर कम होम: द रीडिंग ब्रेन इन ए डिजिटल वर्ल्ड' में, वह छोटे बच्चों में द्वि-साक्षर पढ़ने वाले मस्तिष्क को विकसित करने की वकालत करती हैं। गहरी पढ़ने की क्षमताओं को विकसित करने में छपाई की भूमिका को महत्व देते हुए, वह तर्क देती हैं कि 10 साल तक के बच्चों के लिए भौतिक किताबें और छपाई ही मुख्य माध्यम होने चाहिए। वह तर्क देती हैं कि हमारा मस्तिष्क, जो अद्भुत रूप से न्यूरोप्लास्टिक (बदलने में सक्षम) होता है, पढ़ने के नए सर्किट बना सकता है; लेकिन डिजिटल माध्यमों से पढ़ने की ओर बढ़ने से पहले, इसका सही वातावरण में विकसित होना अनिवार्य है।प्रोफेसर वुल्फ के अनुसार, छपी हुई सामग्री को गहराई से पढ़ने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह उस चीज़ को सिखाता है जिसे वह संज्ञानात्मक धैर्य कहती हैं - यानी, लंबे और अधिक जटिल लेखों पर अपना ध्यान बनाए रखने की क्षमता। बदले में, यह संज्ञानात्मक धैर्य पाठकों को सहानुभूति, विश्लेषणात्मक तर्क-क्षमता और गहन अंतर्दृष्टि विकसित करने के कौशल हासिल करने में मदद करता है। जिस प्रकार मांसपेशियों के इस्तेमाल न होने से वे कमज़ोर भी पड़ सकती हैं उसी प्रकार मस्तिष्क के ये सर्किट भी काम में न लेने पर्व कमजोर हो जाते हैं।

सरकारें चिंतित हैं और ऐसे कदम उठा रही हैं जो पहले कभी नहीं उठाए गए। 2026 में, ब्रिटेन ने 'राष्ट्रीय पठन वर्ष' घोषित किया, और चीन ने नागरिकों के बीच पढ़ने की आदत को बढ़ावा देने के लिए अपना पहला राष्ट्रीय कानून पेश किया। सिंगापुर में, 'राष्ट्रीय पठन आंदोलन' 2026 में अपने 10 साल पूरे कर रहा है - लेकिन नए डिजिटल युग और एनालॉग किताबों की वापसी का मेल, साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए एक बेहतरीन मौका बना रहा है।

माइक्रोसॉफ्ट की 1999 की यह भविष्यवाणी कि 2020 तक किताबें खत्म हो जाएंगी, सच साबित नहीं हुई। लेकिन किताबें उस 'मासूमियत के दौर' में भी वापस नहीं लौट सकतीं। पूरी संभावना है कि, प्रलय की भविष्यवाणियां करने वाले फिर से गलत साबित होंगे और अतीत की यादों में खोए रहने वाले लोग भी गलत ठहरेंगे। पढ़ने के तरीके नए आयाम छुएंगे और किताबें अपने क्षेत्र में अपनी पकड़ और मज़बूत करेंगी।❑

प्राचीन कला में लिखित भाषा की उत्पत्ति के सुराग

❑

❑

जैकी फ्लिन मोगेंसन

अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान पत्रिका 'साइंटिफिक अमेरिकन' की संवाददाता लिखित भाषा की उत्पत्ति पर नई रोशनी डालने वाले एक शोध के बारे में बताया रहीं है। सं.

एक नए विश्लेषण से पता चलता है कि लगभग 40,000 साल पहले बनाई गई चीज़ों पर मौजूद हज़ारों निशान महज़ चित्रकारी से कहीं बढ़कर हो सकते हैं।

इस धरती पर कला के सबसे पुराने ज्ञात नमूनों में से एक, एक विशालकाय हाथी (मैमथ) की छोटी मूर्ति है, जिसे आज से लगभग 40,000 साल पहले पाषाण युग के किसी कारीगर ने हाथी-दांत से तराशा था। यह मूर्ति उस जगह पर मिली थी जो अब जर्मनी में है, और इस पर रहस्यमयी क्रॉस और बिंदु बने हुए हैं। इस मूर्ति और उसी इलाके की गुफाओं में मिली सैकड़ों अन्य चीज़ों के एक नए विश्लेषण से अब यह पता चलता है कि इन निशानों का, इन्हें बनाने वाले प्राचीन लोगों के लिए कोई खास मतलब रहा होगा।

बर्लिन के 'म्यूजियम ऑफ़ प्रीहिस्ट्री एंड अर्ली हिस्ट्री' की रिसर्च

एसोसिएट इवा डुटकीविच बताती हैं कि शोधकर्ताओं ने पाषाण युग की 260 चीज़ों पर बने 3,000 से ज़्यादा निशानों की जांच की। इन चीज़ों में एक रहस्यमयी शेर-इंसान का मिला-जुला रूप 'मैमथ', और कुछ कम जाने-पहचाने औज़ार और वाद्य यंत्र शामिल थे। उन्होंने पाया कि इन निशानों के पैटर्न सांख्यिकीय रूप से उतने ही जटिल हैं, जितने कि 'प्रोटोक्यूनीफ़ॉर्म' के जो

लिखने का एक शुरुआती रूप था और प्राचीन मेसोपोटामिया की लगभग 3500 ईसा पूर्व की टैबलेट्स पर देखने को मिलता है।

पैलियोएंथ्रोपोलॉजिस्ट और नेशनल ज्योग्राफिक इमर्जिंग एक्सप्लोरर जेनेवीव वॉन पेटज़िंगर बताती हैं कि इस तरह का काम चुनौतीपूर्ण हो सकता है, कुछ हद तक इसलिए, क्योंकि ऐसी प्राचीन निशानियों को समझना लगभग नामुमकिन होता है। जेनेवीव लेखन की उत्पत्ति का अध्ययन करती हैं, और वे इस शोध में शामिल नहीं थीं। लेकिन इन प्रतीकों में पैटर्न खोजना, जैसे कि कोई खास मकसद या दोहराव, कम-से-कम इस बात की पुष्टि करने की कोशिश करने के लिए दो बेहतरीन तरीके हैं कि ये निशान सिर्फ़ सजावटी आकृतियों से कहीं ज़्यादा, असल में कोई अर्थ रखते थे।

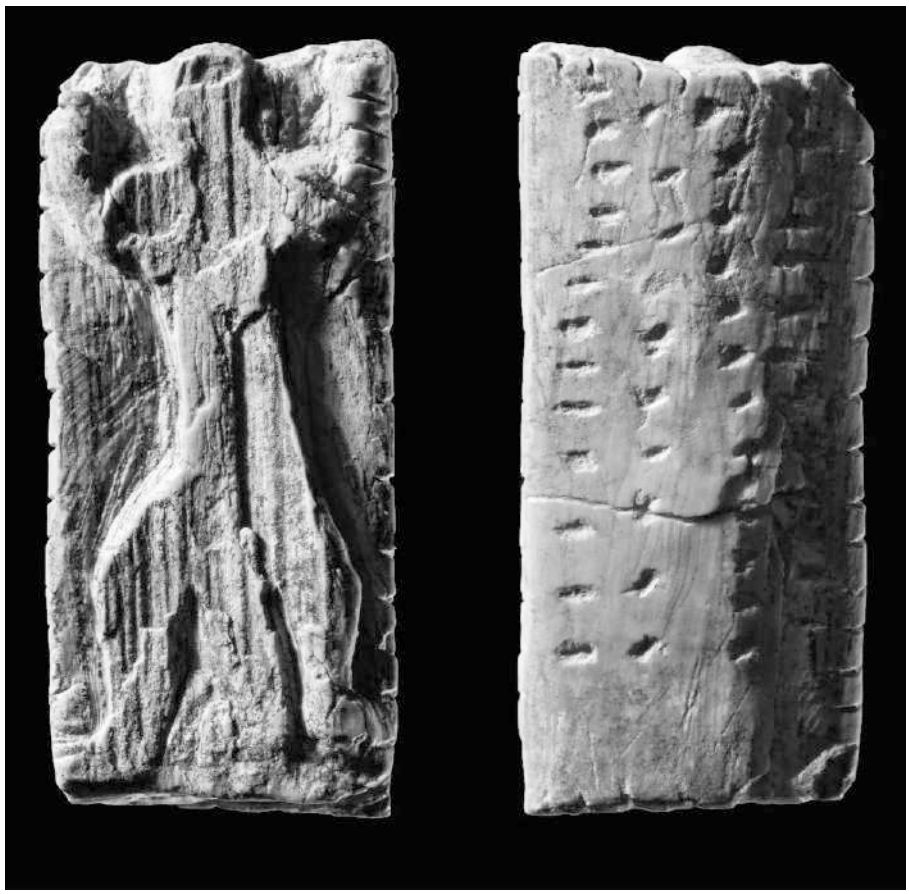

यह पता लगाने के लिए कि ये निशान सजावट थे, शिकार की गिनती थे, या कुछ और, डुटकीविच ने भाषाविद् क्रिश्चियन बेंट्ज़ के साथ काम किया, जो जर्मनी की सारलैंड विश्वविद्यालय में भाषा के इतिहास का अध्ययन करते हैं। दोनों ने इन निशानों को डिजिटाइज़ किया और उनकी विशेषताओं जैसे कि निशानों की विविधता और दोहराव की तुलना अन्य, ज़्यादा हाल के संकेत प्रणालियों से की। यह पैटर्न आज की लिखावट जैसा नहीं दिखता। लेकिन जब बेंट्ज़ ने इन निशानों की तुलना शुरुआती प्रोटो-क्यूनीफ़ॉर्म से की, तो उन्हें समानता साफ़ तौर पर दिखाई दी।

बेंट्ज़ कहते हैं कि, मुझे इस पर यकीन ही नहीं हुआ। मैंने डेटा को बार-बार देखा और पाया कि पाषाण युग के निशान और प्रोटो-क्यूनीफ़ॉर्म में एक जैसी ही जटिलता दिखाई देती है, भले ही उनके बनाने वालों के बीच हज़ारों सालों और काफ़ी दूरी का फ़ासला रहा हो। शोधकर्ताओं का कहना है कि 260 चीज़ों में से, हाथीदांत की मूर्तियों जैसे कि मैमथ की मूर्ति पर औज़ारों की तुलना में ज़्यादा जानकारी वाले निशान थे। बेंट्ज़ कहते हैं कि इंसानों को दिखाने वाली चीज़ों पर क्रॉस जैसे निशान नहीं थे, और औज़ारों पर बिंदु नहीं थे। इससे पता चलता है कि इन निशानों का पाषाण युग के उन इंसानों के लिए कोई न कोई प्रतीकात्मक अर्थ ज़रूर रहा होगा जिन्होंने इन्हें बनाया था। वॉन पेटज़िंगर कहते हैं, इन निशानों का व्यवस्थित होना, ज़्यादा जटिल विचारों के आदान-प्रदान की ओर इशारा करता है। इन खास निशानों का क्या मतलब था, इसे समझना अगर नामुमकिन नहीं तो एक बेहद मुश्किल काम है। लेकिन बेंट्ज़ और डटकीविच के तरीके दूसरे शोधकर्ताओं को यह पता लगाने में मदद कर सकते हैं कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में मिली दूसरी प्राचीन चीज़ों पर बने ऐसे ही निशानों का क्या मतलब हो सकता है, भले ही वे उन्हें पढ़ न पाएं।

वॉन पेटज़िंगर कहते हैं, हम 'लिखने' के लिए सतहों के चुनाव और खास तस्वीरों और निशानों के बारे में लिए गए फ़ैसलों के बारे में जितना ज़्यादा जान पाएंगे, हम उस दौर के बारे में उतना ही ज़्यादा जान पाएंगे जिससे बाद में लेखन की शुरुआत हुई।❑

एआई डेटा सेंटर आस-पास के इलाकों का तापमान बढ़ा देते हैं

❑

❑

क्रिस स्टोकेल-वॉकर

आधुनिक प्रौद्योगिकी जहां हमारे जीवन को सरल बना रही है वहीं पर्यावरण पर उसके प्रभाव हमें चिंतित भी करते हैं। यह आलेख बता रहा है कि एआई की नई प्रौद्योगिकी भी ऐसा कर रही है। सं.

एआई को पावर देने के लिए बनाए गए 'डेटा सेंटर' इतनी ज़्यादा गर्मी पैदा करते हैं कि वे अपने आस-पास की धरती की सतह का तापमान कई डिग्री तक बढ़ा सकते हैं, जिससे वे 'डेटा सेंटर हीट आइलैंड' बन जाते हैं।

दुनिया भर में बनाए जा रहे डेटा सेंटरों की संख्या में ज़बरदस्त बढ़ोतरी होने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार 2025 और 2030 के बीच डेटा सेंटरों की क्षमता दोगुनी हो जाएगी – और इस मांग का आधा हिस्सा एआई से आने की उम्मीद है।

कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के अध्ययनकर्ता एंड्रिया मारिनोनी और उनके सहयोगियों ने देखा कि डेटा सेंटर चलाने के लिए ज़रूरी ऊर्जा की मात्रा हाल के दिनों में लगातार बढ़ रही थी, और आने वाले सालों में इसके बहुत ज़्यादा बढ़ जाने की संभावना थी; इसलिए वे इसके असर को मापना चाहते थे। शोधकर्ताओं ने पिछले 20 सालों में ज़मीन की सतह के तापमान की सैटेलाइट से माप ली, और फिर उनकी तुलना 8400 से ज़्यादा एआई डेटा सेंटरों के भौगोलिक निर्देशांकों से की। यह मानते हुए कि ज़मीन की सतह का तापमान दूसरे कारणों से भी प्रभावित हो सकता है, शोधकर्ताओं ने अपनी जांच उन डेटा सेंटरों पर केंद्रित करने का फ़ैसला किया जो घनी आबादी वाले इलाकों से दूर स्थित थे। उन्होंने पाया कि एआई डेटा सेंटर के काम शुरू करने के बाद के महीनों में ज़मीन की सतह का तापमान औसतन दो डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ गया। सबसे ज़्यादा मामलों में, तापमान में बढ़ोतरी 9.1 डिग्री सेंटीग्रेड तक दर्ज की गई।

यह असर सिर्फ़ डेटा सेंटरों के आस-पास के इलाकों तक ही सीमित नहीं था: टीम ने 10 किलोमीटर दूर तक भी तापमान में बढ़ोतरी पाई। सात किलोमीटर दूर, इसकी तीव्रता में सिर्फ़ 30 प्रतिशत की कमी आई थी।

मैरिनोनी कहते हैं कि हमें जो नतीजे मिले हैं, वे काफ़ी चौंकाने वाले है और यह एक बहुत बड़ी समस्या बन सकती है।❑

स्मृति शेष

नाट्यकार बब्बन खान का निधन

गिनीज़ बुक ऑफ़ रिकॉर्ड्स' में जगह पाने वाले नाटक 'अदरक के पंजे' के रचयिता नाट्यकार बब्बन खान का 17 अप्रैल को हैदराबाद में निधन हो गया। वे 83 साल के थे।

परिवार नियोजन जैसे पेचीदा और संवेदनशील मुद्दे को एक मज़ेदार और अनोखे अंदाज़ में उठाने वाले हैदराबादी ह्यूमर से भरपूर इस नाटक ने कोई साढ़े तीन दशक तक लोगों को खूब हंसाया। इसमें एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की हताशा, दुर्दशा और मनोदशा का चित्रण था।

अगस्त 1965 में, जब भारत और पाकिस्तान उत्तरी सीमाओं पर युद्ध में उलझे हुए थे, तब हैदराबाद के पुराने शहर की स्ट्रीट-लाइट्स के नीचे, 22 साल के एक बेसहारा नौजवान ने तीन घंटे से कुछ ज़्यादा समय में यह नाटक लिख डाला। जब 2001 में बब्बन खान के इस नाटक 'अदरक के पंजे' का आखिरी शो हुआ, तब तक 60 से अधिक देशों और दर्जनों भाषाओं में 10,000 से भी ज़्यादा बार उसका मंचन हो चुका था।

'अदरक के पंजे' के इस अभिनेता को रेडियो सीलोन के लोकप्रिय कार्यक्रम, एस. कुमार का फ़िल्मी मुक़दमा में भी आमंत्रित किया गया था, जो आम तौर पर हिंदी फ़िल्म जगत की मशहूर हस्तियों के लिए ही आरक्षित रहता था। इस नाटक को अन्य लोगों के अलावा, अंतराष्ट्रीय फ़िल्म निर्देशक फ्रांसिस फ़ोर्ड कोपोला, अभिनेता रेक्स हैरिसन और रोमांचक उपन्यासों के लेखक फ्रेडरिक फ़ोर्साइथ जैसी हस्तियों ने भी देखा। इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया में 1970 में एक लेख में हास्य अभिनेता जॉनी वॉकर ने कहा कि 15 सालों से मैं फ़िल्म दर्शकों को हंसाता आ रहा हूं, लेकिन यह एक ऐसा नाटक था जिसने मुझे हंसाया।

टाइम्स ऑफ इंडिया से 1995 में बातचीत करते हुए बब्बन खान ने कहा कि उन्हें अपने नाटक का मंचन करने के लिये अपनी मां के विवाह का एकमात्र आभूषण 275 रुपये में बेच दिया। उसमें से 200 रुपये थियेटर के किराये के दिए। तीस रुपये टिकटों की छपाई के लगे। नाटक में काम में लेने के लिये ढाई रुपये में एक छाता खरीदा। शेरवानी बनाने के लिये 18 रुपयों में कपड़ा खरीदा। दर्जी सिलाई के दाम के बदले शो का पास लेना मंजूर कर लिया। सितंबर 1965 में नाटक का पहला शो फ्लॉप रहा। मगर दूसरा ऐसा चला कि बाद में फिर कभी नहीं रुका और बुलंदियां छूता चला गया। किसी हिट हिंदी फ़िल्म की तरह, 'अदरक के पंजे' के लिए भी भारी एडवांस बुकिंग होती थी। इस नाटक की ज़बरदस्त सफलता ने उस जमाने में 'बब्बन' को लखपति बना दिया जब भिखारी पांच पैसे पाकर ही खूब खुश हो जाते थे।

बाद के सालों में बब्बन का घर उभरते रंगमंच कलाकारों तथा सिने अभिनेताओं का प्रशिक्षण स्थल बन गया जहां वे खुद छात्रों को अभिनय के गुर सिखाते थे। उनके घर पर कलाकारों और लेखकों का जमघट लगा रहता था।

बब्बन खान जब सिर्फ़ छह साल के थे उनके पिता का निधन हो गया। इस नाटककार ने 2001 में टाइम्स ऑफ इंडिया को बताया: मेरे सभी भाई-बहन कम उम्र में ही गुज़र गए; मैं अकेला बचा जो यह कहानी सुना सका। उन्होंने रंगमंच का कोई प्रशिक्षण नहीं लिया था और अपनी कॉलेज की पढ़ाई भी बीच में ही छोड़ दी थी।

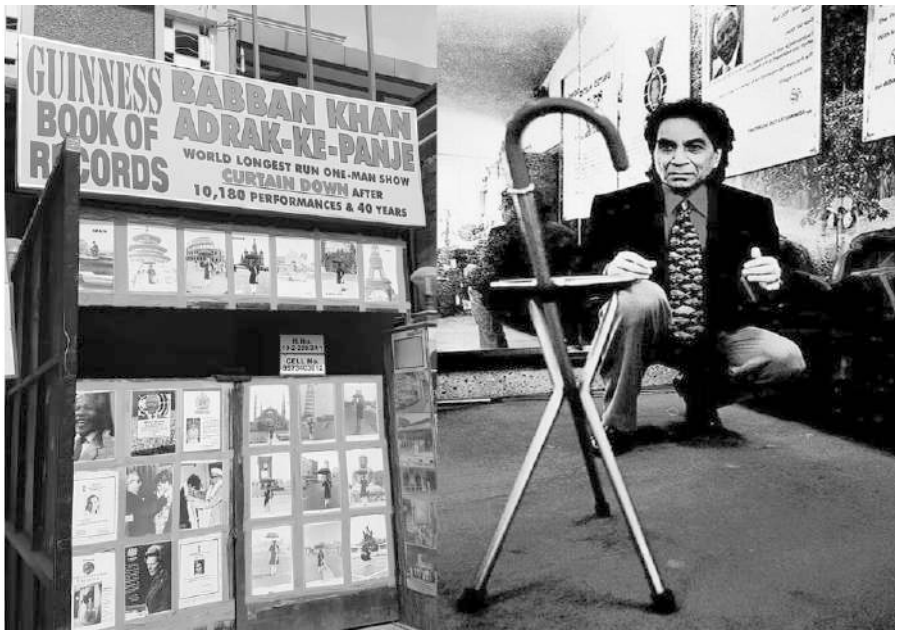

रघु राय को विदाई

❑

तस्वीरों से इतिहास लिखने वाले फोटोग्राफर रघु राय नहीं रहे। 83 वर्ष की उम्र में उनका 26 अप्रेल को दिल्ली में निधन हो गया। उनके साथ ही भारतीय कला जगत ने अपना सबसे प्रखर 'नज़र' वाला फोटोग्राफर खो दिया।

रघु राय केवल एक फोटोग्राफर नहीं थे, बल्कि वे एक विज़ुअल-इतिहासकार थे। 18 दिसंबर 1942 को अविभाजित भारत के झांग (अब पाकिस्तान) में जन्मे रघु राय ने अपने पांच दशक से अधिक के करियर में भारत के हर रंग, हर पीड़ा और हर उत्सव को अपने कैमरे में जीवंत किया। वे ऐतिहासिक क्षणों के गवाह रहे। उन्होंने 1971 के बांग्लादेश मुक्ति संग्राम से लेकर आपातकाल और 1984 की भीषण भोपाल गैस त्रासदी जैसी घटनाओं वाले देश के सबसे निर्णायक और मार्मिक क्षणों को कैद किया। महान फोटोग्राफर हेनरी कार्टियर-ब्रेसों ने 1977 में उन्हें प्रतिष्ठित 'मैग्नम फोटोज' के लिए नामांकित किया था, जिससे वे इस समूह में शामिल होने वाले पहले भारतीय बने।

उनके असाधारण काम के लिये भारत सरकार ने उन्हें 1972 में 'पद्मश्री' अलंकरण से विभूषित किया।

रघु राय अक्सर कहते थे कि वे प्रोफेशनल फोटोग्राफर नहीं, बल्कि एक खोजी हैं। वे अपनी तस्वीरों में तकनीक से ज्यादा 'क्षण' और 'भावना' को महत्व देते थे।

रघु राय फोटोग्राफर कैसे बन गए इसका दिलचस्प किस्सा है। उनके बड़े भाई एस. पॉल फोटोग्राफ़ी की दुनिया में स्थापित हो चुके थे तथा 'इंडियन एक्सप्रेस' में चीफ़ फोटोग्राफ़र हुआ करते थे। संयोग से 1966 में रघु उनके पास दिल्ली आए। तब कुछ ऐसा संयोग हुआ कि उनके एक साथी अपने गांव जा रहे थे। रघु राय ने भाई से उनके दोस्त के साथ गांव जाने की इजाजत तो ली ही, उनका कैमरा भी ले लिया। सोचा गांव में कुछ तस्वीरें खींच लेंगें। खुद रघु राय के शब्दों में: 'बात ये हुई कि रास्ते में एक गदहा दिखा, मैंने उसकी तस्वीर लेनी चाहिए. पर वह भागने लगा. मैं उसके पीछे भागने लगा. यह खेल तब तक चला जब तक गदहा थक कर रुक नहीं गया. तब जाकर मैंने उसकी तस्वीर खींच ली. बाद में बड़े भाई साहब ने उसे देखा, और उसका प्रिंट तैयार करके उसे विदेश के कुछ अखबारों के लिए भेज दिया।'

इस तस्वीर ने उनकी ज़िंदगी में चमत्कार किया। पहली ही तस्वीर 'लंदन टाइम्स' में आधे पन्ने पर छप गई। तब उन्हें इसके इतने पैसे मिले कि महीने भर का वेतन बराबर हो गया। रघु को लगा कि वो भी ये कर सकते हैं। बस इसी भरोसे ने उन्हें कैमरे के पीछे ला खड़ा किया। उन्होंने एक बार बीबीसी से कहा था, 'आप इसे संयोग, किस्मत या फिर जो चाहें कह लें, भाई साहब फ़ोटोग्राफर नहीं होते, मेरी पहली तस्वीर 'लंदन टाइम्स' में नहीं छपती, तो शायद मैं कभी फ़ोटोग्राफ़र नहीं बनता'। ❑

आशा भोंसले : एक युग की कड़ी टूटना

सवाक फिल्मों में पार्श्व-गायन के आने से सिने संगीत का जो स्वर्ण युग बना उसमें बड़ा योगदान देने वाले कलाकारों में एक प्रमुख नाम आशा भोंसले दीर्घायु लेकर गत 13 अप्रेल को 92 वर्ष की उम्र पाकर महाप्रयाण कर गईं। उनकी सबसे बड़ी बात यह कि वे अंतिम समय के कुछ पहले तक पूरी सक्रिय रही।

सिने संगीत को अपने स्वर्ण युग में तकनीकी मजबूरियों के चलते श्रोता को अपनी गिरफ्त में लेने के लिये सिर्फ करीब तीन मिनट का समय मिलता था। इसी तीन मिनटों में संगीतकार, गीतकार, साजिन्दे और गायक मिल कर ऐसी रचनाएं कर गए जो करोड़ों के दिलों में उतर गई। इनमें आशा भोंसले सर्वश्रेष्ठ गायक गायिकाओं में प्रमुख थी।

आशा ने करीब आठ दशक तक लोगों का मनोरंजन किया। उन्होंने राजस्थानी गाने भी गाए।

उनके चले जाने के बाद भी उनके गाए गाने हमेशा गुनगुनाए जाते रहेंगे, जिनमें वे अमर रहेंगी। ❑

RS-CIT
एक परिपूर्ण कंप्यूटर कोर्स !

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज

- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

Rajasthan Knowledge Corporation Limited
(A Public Limited Company Promoted by Govt. of Rajasthan)

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें
या 9571237334 पर WhatsApp करें

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा 7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

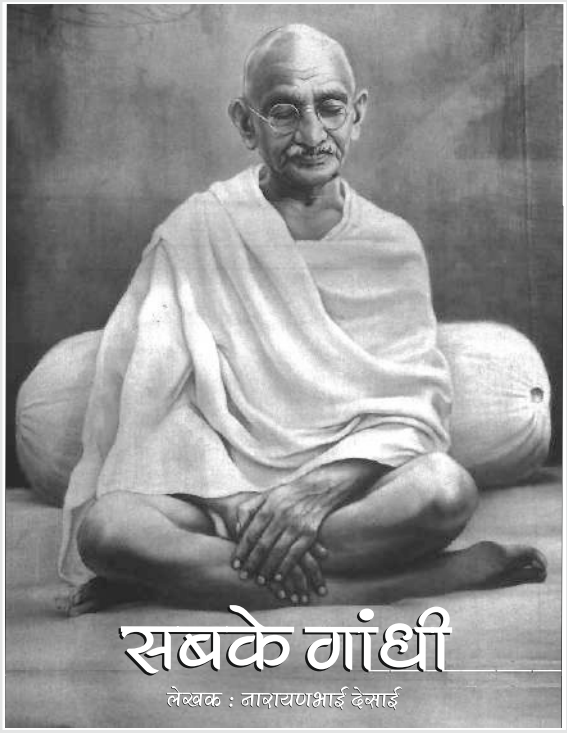

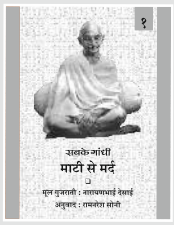

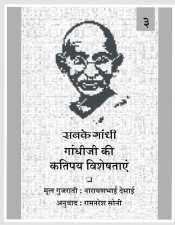

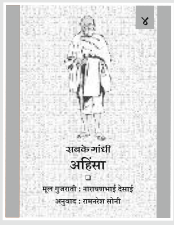

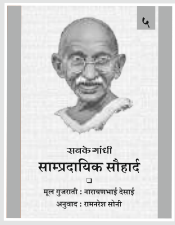

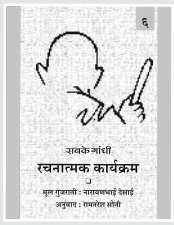

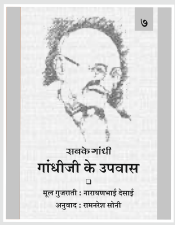

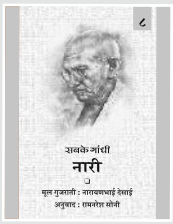

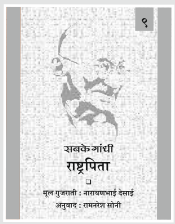

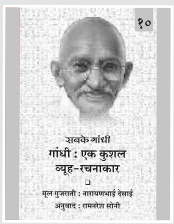

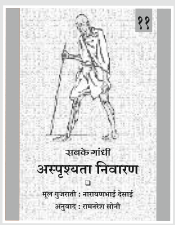

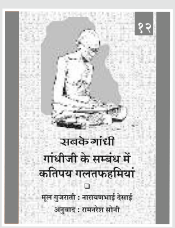

सहयोग राशि के लिए बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext.
Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/– मात्र डाक खर्च रुपये 75/– अलग से देय होगा।